जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला

ग्रन्थ-१

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

विवेचक और सम्पादक

मुनि नथमल

प्रकाशक

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध व्यवस्थापक :

श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम, बी० एल०

संयोजक :

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

धारक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक :

सरावगी चेरिटेबिल फण्ड

७, राऊन रोड, कलकत्ता

प्रकाशन तिथि :

माघ महोत्सव

मार्गशीर्ष शुक्ला, सप्तमी २०२३

प्रति-संख्या :

११००

पृष्ठांक :

२९०

मूल्य :

८)

मुद्रक :

रोशन आर्ट प्रिन्टिग प्रेस,

कलकत्ता

ग्रन्थानुक्रम

१. समर्पण
२. अन्तस्तोष
३. प्रकाशकीय
४. सम्पादकीय
५. विषयानुक्रम
६. समीक्षात्मक अध्ययन

परिशिष्ट

१. चूर्णि की परिभाषाएँ
२. प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

समर्पण

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,	जिसने आगम-दोहन कर कर,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं।	पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
सज्झाय-सज्झाण-रयस्स निच्च,	श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥	जयाचार्य को विमल भाव से ॥

विनयावनत

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगें। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य मे संलग्न हो गया। अत: मेरे इस अन्तस्तोष में मै उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में सविभागी रहे है।

विवेचक और सम्पादक

मुनि नथमल

सहयोगी : मुनि दुलहराज

सविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन-ने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना सविभाग समर्पित किया है, उन सबको मै आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

"दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन"—'आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला' के प्रथम ग्रन्थ के रूप में पाठकों के हाथों में है। इस ग्रन्थ-माला में एक के बाद एक सभी आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन प्रकाशित करने की योजना है। आगम एव उनके व्याख्या ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से भारतीय आध्यात्मिक-स्तर, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है, उसका यह ग्रन्थ एक नमूना है। आगम-साहित्य प्रकाशन की विस्तृत योजना में ऐसे सस्करणों का अपना एक अनुपम स्थान है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

विद्वज्जन एव साधारण जनता को लक्ष्य में रखते हुए आगम-साहित्य सशोधन कार्य को छः ग्रन्थ-माला के रूप में ग्रथित करने का उपक्रम वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी ने अपने वलिष्ठ हाथों में लिया है। ग्रन्थ-मालाओं की परिकल्पना निम्न प्रकार है

१—आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे।

२—आगम-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, सस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद, पद्यानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे।

३—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।

४—आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।

५—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमो से सम्बन्धित कथाओं का सकलन होगा।

६—वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमो के वर्गीकृत और सक्षिप्त सस्करण होंगे।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी और उनके विद्वान साधु-साध्वी गण अजस्र अथक परिश्रमशीलता और सशोधक वृत्ति से योजना की परिपूर्ति में जुटे हुए हैं।

इस योजना की परिसीमा में दशवैकालिक (भाग-२) सशोधित मूलपाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टिप्पणियों सहित डवल डिमाई ⅛ साइज के ८०० पृष्ठों के वृहदाकार में प्रकाशित किया जा चुका है। आज तक प्रकाशित दशवैकालिक के सस्करणों में जैन-अजैन विद्वानों ने उसे मुक्त रूप से सर्वोच्च कोटि का स्वीकार किया है। वाचना प्रमुख आचार्य श्री की देख-रेख में होने वाले कार्य की महत्ता इसी से आँकी जा सकती है।

अन्य ग्रन्थ, जो इसके साथ ही प्रकाशित हो रहे हैं, निम्न प्रकार हैं :

१—दशवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि

(आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२ – धर्म-प्रज्ञप्ति, खण्ड-१ : दशवैकालिक वर्गीकृत

(वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

निम्नलिखित ग्रन्थ मुद्रण में हैं :—

१—उत्तरज्झयण : मूल, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद आदि युक्त संस्करण।

(आगम-ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ)

२—आयारो

(आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला का द्वितीय ग्रन्थ)

पाण्डुलिपि प्रणयन :

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का प्रणयन आदर्श साहित्य संघ द्वारा हुआ है। पाण्डु प्रति महासभा को प्रकाशनार्थ प्रदान कर संघ ने जिस उदारता का परिचय दिया है, उसके लिए आगम-साहित्य प्रकाशन समिति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती है।

आर्थिक योग-दान :

इस ग्रन्थ के मुद्रण-खर्च का भार श्री रामकुमारजी सरावगी की प्रेरणा से श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड, कलकत्ता, जिसके श्री प्यारेलालजी सरावगी, गोविन्दलालजी सरावगी, सज्जनकुमारजी सरावगी एवं कमलनयनजी सरावगी ट्रस्टी हैं, ने वहन किया है।

श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड का यह आर्थिक अनुदान स्वर्गीय स्वनामधन्य श्रावक महादेवलालजी सरावगी एवं उनके सुयोग्य दिवंगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी (सदस्य भारतीय लोक सभा) की स्मृति में प्राप्त हुआ है। स्व० महादेवलालजी सरावगी तेरापंथ-सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य श्रावक थे और कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रतिष्ठान महादेव रामकुमार से सम्बन्धित थे। स्व० पन्नालालजी सरावगी महासभा एवं साहित्य प्रकाशन समिति के बड़े उत्साही एवं प्राणवान् सदस्य रहे। आगम-प्रकाशन योजना में उनकी आरम्भ से ही अभिरुचि रही।

उक्त योगदान के प्रति हम उक्त फण्ड के ट्रस्टीगण के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन की व्यवस्था के लिए महासभा द्वारा सन् १९६५ में सर्वश्री मदनचन्दजी गोठी, मोहनलालजी बाँठिया 'चंचल', गोविन्दरामजी सरावगी, खेमचन्दजी सेठिया एवं श्रीचन्द रामपुरिया की आगम-साहित्य प्रकाशन समिति गठित की गई थी, जिसकी अवधि पाँच वर्ष की रखी गई। हमें लिखते हुए परम खेद हो रहा है कि हमारे अनन्य साथी एवं परामर्शक श्री मदनचन्दजी गोठी हमारे बीच नहीं

रहे। इस अवसर पर हम उनकी अपूर्व सेवाओं को याद किये बिना नही रह सकते। उनकी स्मृति से आज भी हृदय में वल का सचार होता है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन-जिन विद्वानो अथवा प्रकाशन-सस्थाओं के ग्रन्थ तथा प्रकाशनों का उपयोग हुआ है, उन सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता-७
८-२,६७

श्रीचन्द रामपुरिया
सयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

सम्पादन का कार्य सरल नही है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भाव-धारा आज की भाषा और भाव-धारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरब्ध होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बड़ा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। और कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तन-शीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-विन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अकृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहाँ परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विश्व में जो है, वह वही है, जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषा शास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थों और अशोक के शिला-लेखों में है, वह आज के श्रमण-साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर कोई चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अत वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवांगी टीकाकार (अभयदेव सूरि) के सामने अनेक कठिनाइयाँ थी। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धित ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
(स्थानाङ्ग वृत्ति, प्रशस्ति)

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नही है ।
२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नही है ।
३. स्वकीय और परकीय सर्व शास्त्रों को मैंने न देखा है और जिन्हें देखा है उनकी भी अविकल स्मृति नही है ।
४ अनेक वाचनाएँ (आगमिक अध्यापन की पद्धतियाँ) हैं ।
५. पुस्तकें अशुद्ध हैं ।
६. कृतियाँ सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं ।
७. अर्थ-विषयक मतभेद भी हैं ।

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नही छोडा और वे कुछ कर गए ।

कठिनाइयाँ आज भी कम नही हैं । किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया । उनके शक्ति-शाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य जो स्वय प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बडी बात है ? बडी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमें प्राण-सचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है । सम्पादन-कार्य में हमें आचार्य श्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है । आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए पर्याप्त समय दिया है । उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं ।

आगम-सम्पादन की रूप-रेखा

आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्वद्-वर्ग और जन-साधारण । दोनों को दृष्टि में रख कर हमने इस कार्य को छः ग्रन्थ-मालाओं में ग्रथित किया है । उसका आकार यह है :

१—आगम-सुत्त-ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे ।

२—आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमो के मूलपा[illegible], सस्कृत-छाया, अनुवाद, पद्यानुक्र[illegible]नुक्रम आदि हों[illegible]

४—आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।
५—आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।
६—आगम-कथा ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थमाला में सभी आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा।
७—वर्गीकृत-आगम ग्रन्थ-माला—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें दशवैकालिक का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। समीक्षा का पहला सूत्र है तटस्थता। आचार्य श्री के सत्य-स्पर्शी अन्तःकरण ने हमें तटस्थता के प्रति दृष्टि दी है। हमने उसी से समग्र-कृति को देखा है। छद्मस्थ-मनुष्य अपने अपूर्ण-दर्शन का भागी है इसलिए वह यह गर्व नहीं कर सकता कि उसने हर तथ्य को परिपूर्ण दृष्टि से देखा है। हम भी छद्मस्थ हैं, इसलिए हम परिपूर्ण दर्शन की दुहाई नहीं दे सकते। पर हमने हर शब्द और उसके अर्थ को तटस्थता की दृष्टि से देखने का विनम्र प्रयत्न किया है, यह कहना सत्य को अनावृत करना है।

शोधपूर्ण सम्पादन में जहाँ लाभ है, वहाँ कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं। मेरे मतानुसार शोध के चार मान-दण्ड हो सकते हैं :

१—सर्वांगतः नई स्थापना।
२—एकांगतः नई स्थापना।
३—पूर्व स्थापना में संशोधन।
४—पूर्व स्थापना में विकास।

आगम-साहित्य के सम्पादन में हमें नई स्थापना या पूर्व स्थापना में संशोधन या विकास नहीं करना है। वह हमारी स्वतंत्र मेधा का परिणाम है। इस समय तो हमें अतीत का अनुसन्धान करना है। हमारा कार्य शोधात्मक होने की अपेक्षा अनुसन्धानात्मक अधिक है। दो हजार वर्ष की अवधि में जो विस्मृत या अपरिचित हो गया, उसका पुनः सन्धान करने में हमें स्थान-स्थान पर शोधात्मक दृष्टि का भी सहारा लेना होता है। इसीलिए इस कार्य को हम शोध-पूर्ण सम्पादन की भी संज्ञा दे देते हैं।

कृतज्ञता

मैं आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ, इन शब्दों में जितना व्यवहार है, उतनी सचाई नहीं है। सचाई यह है कि मेरी हर कृति उनकी प्रेरणा-रेखाओं का संकलन है। कृतज्ञ

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुझे अपने अभिन्न सहयोगी मुनि दुलहराजजी का पूर्ण सहयोग रहा है पर वे नहीं चाहते कि मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ।

मुनि ताराचन्दजी तथा साध्वी मजुलाजी ने भी यत्र-तत्र मेरा हाथ बँटाया है।

निर्युक्ति काल से लेकर अब तक की उपलब्ध-साधन-सामग्री से हमें दृष्टियाँ प्राप्त हुई है, हमारा कार्य-पथ सरल हुआ है, इसलिए मैं उसके प्रणेता आचार्यों व मनीषियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

स० २०२३, भाद्रवी पूर्णिमा —मुनि नथमल
बीदासर।

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

दशवैकालिक का वहिरंग परिचय

१—जैन आगम और दशवैकालिक — पृ० ३

आगम की परिभाषा

आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान

नामकरण

उपयोगिता और स्थापना

२—दशवैकालिक के कर्त्ता और रचनाकाल — १३

रचनाकार का जीवन-परिचय

निर्यूहण या लघुकरण

रचना का उद्देश्य

रचनाकाल

३—रचना-शैली — १८

४—व्याकरण-विमर्श — २२

संधि

कारक

वचन

समास

प्रत्यय

लिङ्ग

क्रिया और अर्द्धक्रिया

क्रिया-विशेषण

आर्ष-प्रयोग

विशेष-विमर्श

क्रम-भेद

५—भाषा की दृष्टि से — ३९

६—शरीर-परामर्श — ४०

७—छन्द-विमर्श — ४४

८—उपमा और दृष्टान्त ४६
९—परिभाषाएँ ४९
१०—चूलिका ५०
११—दशवैकालिक और आचाराग-चूलिका ५३
(दशवैकालिक और आचारांग चूलिका के तुलना-स्थल)
१२—दशवैकालिक का उत्तरवर्त्ती साहित्य पर प्रभाव ७२
१३—तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक) ७५

द्वितीय अध्याय

दशवैकालिक का अन्तरंग परिचय

१—साधना ८३
समग्रदर्शन
साधना के उत्कर्प का दृष्टिकोण
२—साधना के अग ८७
अहिंसा का दृष्टिकोण
सयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण
प्रवचन गौरव का दृष्टिकोण
परीषह-सहन का दृष्टिकोण
निपेध-हेतुओं का स्थूल विभाग
विनय का दृष्टिकोण

तृतीय अध्याय

महाव्रत

१—जीवो का वर्गीकरण १११
२—सक्षिप्त व्याख्या ११४
अहिंसा और समता
पृथ्वी जगत् और अहिंसक निर्देश
अप्काय—जल
अप्जगत् और अहिंसक निर्देश
तेजस् जगत् और अहिंसक निर्देश
वायु जगत् और अहिंसक निर्देश
वनस्पति

२—संक्षिप्त व्याख्या

वनस्पति जगत् और अहिंसक निर्देश

त्रस जगत् और अहिंसक निर्देश

सत्य

अचौर्य

ब्रह्मचर्य

अपरिग्रह

चतुर्थ अध्याय

चर्या-पथ

१—चर्या और विहार १२५

२—वेग-निरोध १२८

३—ईर्यापथ १२६

कैसे चले ?

कैसे बैठे ?

कैसे खड़ा रहे ?

४—वाक्-शुद्धि १३२

कैसे बोले ?

५—एषणा १३६

भिक्षा की एषणा क्यों और कैसे ?

भिक्षा कैसे ले ?

कैसे खाये ?

६—इन्द्रिय और मनोनिग्रह १४२

७—स्थिरीकरण १४३

८—किस लिए ? १४४

९—विनय १४६

१०—पूज्य कौन ? १४७

११—भिक्षु कौन ? १४८

१२—मुनि के विशेषण १४९

१३—मोक्ष का क्रम १५०

पंचम अध्याय

व्याख्या-ग्रन्थों के सन्दर्भ में

१—परिचय और परम्परा	१५५
२—व्याख्यागत प्राचीन परम्पराएँ	१५८
३—आहार-चर्या	१६१
४—मुनि कैसा हो ?	१६७
५—निक्षेप पद्धति	१७४
धर्म	
अर्थ	
अपाय	
उपाय	
आचार	
पद	
काय	
६—निरुक्त	१६२
७—एकार्थक	१६८
८—सभ्यता और सस्कृति	२०३
गृह	
उपकरण	
भोजन	
फल	
शाक	
खाद्य	
चूर्ण और मंथु	
पुष्प	
आभूषण	
प्रसाधन	
आमोद-प्रमोद तथा मनोरजन	
विश्वास	
रोग और चिकित्सा	
उपासना	

८—सभ्यता और संस्कृति
यज्ञ
दण्ड-विधि
शिक्षा
सम्बोधन
राज्य व्यवस्था
जनपद
शस्त्र
याचना और दान
भोज
मनुष्य का स्थान
कर्त्तव्य और परम्परा
व्यापार यात्रा
पुस्तक
धातु
पशु
श्रमण
व्यक्ति
सिक्का

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय १

वहिरंग परिचय

१—जैन आगम और दशवैकालिक

आगम की परिभाषा :

ज्ञान के अनेक वर्गीकरण मिलते है। वे समय-समय पर हुए है। उनमें से तीन प्रमुख इस प्रकार है—

१ प्रथम वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाँच प्रकार है—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनपर्याय और (५) केवल।[1] यह प्राचीनतम (ई० पू० ५–६ शताब्दी) प्रतीत होता है।

२ प्रमाण की मीमांसा प्रारम्भ हुई तब (ई० ५ शताब्दी) ज्ञान का दूसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।[2]

३ न्यायशास्त्र के विकास काल (ई० ७-८ शताब्दी) में ज्ञान का तीसरा वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार प्रमाण के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।[3] प्रत्यक्ष के दो प्रकार है—(१) साव्यवहारिक और (२) पारमार्थिक।[4] परोक्ष के पाँच प्रकार है—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञा, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।[5]

१—उत्तराध्ययन २८।४

तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं॥

२—नंदी, सूत्र २

तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—पच्चक्खं च परोक्खं च।

३—प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१

तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च।

४—वही, २।४

तद् द्विप्रकारम् सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च।

५—वही, ३।२

स्मरणप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चप्रकारम्।

प्रथम और द्वितीय वर्गीकरण में आगम का उल्लेख नही है। तृतीय वर्गीकरण में उसका परोक्ष के एक प्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है। द्वितीय वर्गीकरण की व्यवस्था हुई तब पाँच ज्ञानो को दो भागो मे विभक्त किया गया—मति और श्रुत—परोक्ष[1] तथा अवधि, मन पर्याय और केवल—प्रत्यक्ष।[2] तृतीय वर्गीकरण पूर्णत न्यायशास्त्रीय था, इसलिए उसमें ज्ञान का विभाजन विशुद्ध प्रमाण-मीमासा की दृष्टि से किया गया। किन्तु उसका आधार वही प्राचीन वर्गीकरण था। तृतीय वर्गीकरण के परोक्ष का प्रथम वर्गीकरण में समवतार किया जाय तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान—मतिज्ञान[3] में तथा आगम—श्रुत-ज्ञान में समवतरित होता है। इस प्रकार तीनो वर्गीकरणो में प्रकार-भेद होने पर भी तात्पर्य-भेद नही है।

प्रथम दो वर्गीकरणो और तृतीय वर्गीकरण से भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आगम श्रुत का ही विशिष्ट या उत्तरकालीन रूप है। श्रुत का अर्थ है—शब्द से होने वाला ज्ञान। आगम का अर्थ भी यही है। इस समानता के आधार पर ही श्रुत और आगम को एकार्थवाची कहा गया।[4] किन्तु श्रुत और आगम सर्वथा एकार्थवाची नही है। श्रुत एक सामान्य और व्यापक शब्द है। आगम का अपना विशिष्ट अर्थ है। भगवती, स्थानाग और व्यवहार सूत्र मे पाँच प्रकार के व्यवहार बतलाए गए है[5]—(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा, (४) धारणा और (५) जीत। इनमें पहला आगम और दूसरा श्रुत है। केवलज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी को आगम कहा गया है। इनमें प्रथम तीन प्रत्यक्षज्ञानी और अंतिम दो

१–नंदी, सूत्र २४

परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियनाण-परोक्ख च, सुयनाण-परोक्खं च।

२–वही, सूत्र ५

नोइंदिय-पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा—ओहिनाण-पच्चक्खं, मणपज्जवनाण-पच्चक्खं, केवलनाण-पच्चक्खं।

३–तत्त्वार्थ सूत्र, १।१३

मति स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

४–अनुयोगद्वार, सूत्र ५१।

५–(क) भगवती ८।८।३३९ :

पंचविहे ववहारे पन्नत्ते, तंजहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए।

(ख) स्थानांग, ५।२।४२१।

(ग) व्यवहार १०।३।

परोक्षज्ञानी अर्थात् श्रुतज्ञानी है। इसके आधार पर आगम की परिभाषा यह बनती है— प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष जैसा अविसंवादी ज्ञान आगम है। श्रुत विसंवादी भी हो सकता है पर आगम विसंवादी नही होता। आगम और श्रुत को भिन्न मानने का यह पुष्ट आधार है।

कई आचार्यों ने नवपूर्वी को भी आगम माना है।[1] किन्तु उन्ही के अनुसार चतुर्दशपूर्वी और सम्पूर्ण दशपूर्वी का श्रुत सम्यक् ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत मिथ्या भी हो सकता है।[2] आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"दशपूर्वी नियमत सम्यक्दृष्टि होते है। नवपूर्वी सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो हो सकते हैं। इसलिए दशपूर्वी का श्रुत सम्यक् ही होता है और नवपूर्वी का श्रुत मिथ्या भी हो जाता है।[3] जयाचार्य ने सम्पूर्ण दशपूर्वी द्वारा रचित शास्त्र का ही प्रामाण्य स्वीकार किया है।[4] नवपूर्वी की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं हो सकती, इसलिए आगम-पुरुष पाँच—केवली, अवधिज्ञानी, मन पर्यायज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी—ही होने चाहिए। उनका ज्ञान नियमत अविसंवादी होता है, इसलिए वे अनुपचरित दृष्टि से आगम है।

१–(क) व्यवहारभाष्य, १३५

आगमसुयववहारी आगमतो छव्विहो उ ववहारो।
केवलि मणोहि चोद्दस-दस-नव-पुव्वी उ नायव्वो॥

(ख) भगवती ८।८।३३९, वृत्ति

तत्र आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागम. केवलमन पर्यायावधिपूर्व-चतुर्दशकदशकनवकरूप।

२–नंदी, सूत्र ४२

इच्चेइयं दुवालसग गणिपिडगं चौद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण परं भिण्णेसु भयणा।

३–नंदी, सूत्र ४२, वृत्ति

सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमत सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टे तत. सम्पूर्णदशपूर्वधरत्वात्पश्चानुपूर्व्या परं भिन्नेषु दशसु पूर्वेषु भजना-विकल्पना कदाचित्सम्यक्श्रुतं कदाचिन्मिथ्याश्रुतमित्यर्थ।

४–प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, १८।१२

सम्पूर्ण दश पूर्वधर, चउदश पूरवधार।
तास रचित आगम हुवे, वारुं न्याय विचार॥

आगम मुमुक्षु की प्रवृत्ति और निवृत्ति के निर्देशक होते है। उनके अभाव मे मुमुक्षु को व्यवहार का निर्देश श्रुत से मिलता है। आगम की विद्यमानता मे श्रुत का स्थान गौण होता है। किन्तु उनकी अनुपस्थिति में व्यवहार का मुख्य प्रवर्तक श्रुत बन जाता है।[1] दशवैकालिक श्रुत है, इसलिए जैन साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस समय आगम-पुरुष कोई नही है। जम्बू स्वामी (वीर निर्वाण की पहली शताब्दी) अंतिम केवली थे। अंतिम मन पर्यायज्ञानी और अवधिज्ञानी कौन हुए, इसका उल्लेख नही मिलता। स्थूलभद्र (वीर निर्वाण की २-३ शताब्दी) अतिम चतुर्दश-पूर्वधर थे। वज्र स्वामी (वीर निर्वाण की छठी शताब्दी) दश-पूर्वधरो में अंतिम थे। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार अतिम दश-पूर्वधर धर्मसेन (वीर-निर्वाण की चौथी शताब्दी) थे।[2] आगम-पुरुष की अनुपस्थिति मे इनका स्थान श्रुत को मिला।

आगम-पुरुषो की अनुपस्थिति में उनकी रचनाओ (सम्यक्-श्रुत) को भी आगम कहा जाने लगा। अनुयोगद्वार मे द्वादशागी के लिए आगम शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] नदी मे द्वादशागी के लिए सम्यक्-श्रुत का प्रयोग मिलता है।[4] इस प्रकार उत्तरकाल में सम्यक्-श्रुत और आगम पर्यायवाची बन गए। दशवैकालिक सम्यक्-श्रुत है और साथ-साथ आगम-पुरुष की कृति होने के कारण आगम भी है।

न्यायशास्त्रो मे श्रुत या शब्द-ज्ञान के स्थान में आगम का प्रयोग मुख्य हो गया। न्याय-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार आप्त-वचन से होने वाला अर्थ-सवेदन आगम है।[5] उपचार-दृष्टि से आप्त-वचन को भी आगम कहा जाता है।[6] इस न्याय-शास्त्रीय आगम का वही अर्थ है, जो प्राचीन परम्परा मे सम्यक्-श्रुत का है।

१—भगवती ८।८।३३९।

२—जयधवला, प्रस्तावना, पृष्ठ ४९।

३—(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ७०२ :

से कि तं आगमे ? आगमे दुविहे पण्णत्ते, तजहा लोइए य लोउत्तरिए य।

(ख) वही, सूत्र ७०४ :

से किं तं लोउत्तरिए ? लोउत्तरिए जण्णं इम अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहि तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहि तिल्लुक्कवहिअ-महिअपूइएहि सव्वण्णूहि सव्वदरसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडग।

४—नंदी, सूत्र ४२ :

से कि तं सम्मसुयं ? सम्मसुयं ··· दुवालसंगं गणिपिडगं।

५—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४।१

आप्त-वचनादाविर्भूतमर्थ-संवेदनमागम ।

६—वही, ४।२ . उपचारादाप्तवचनं च।

शब्द-ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता वक्ता पर निर्भर है। आप्त का वचन विसंवादी नही होता, इसलिए उसका प्रामाण्य होता है। वेदान्त के आचार्यो ने इसे इस रूप में प्रतिपादित किया है कि जिस वाक्य का तात्पर्यार्थ प्रमाणान्तर से वाधित नही होता, वह वाक्य प्रमाण होता है।[1] प्रमाणान्तर से वही वाक्य वाधित नही होता, जो आप्त-पुरुष (या आगम-पुरुष) द्वारा प्रतिपादित होता है। इस प्रकार आगम और आप्त-पुरुष सम-रेखा में स्थित हो जाते है। आगम और श्रुत के अर्थ में 'सूत्र' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।[2] श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना और आगम इन्हें एकार्थवाची कहा गया है।[3] सूत्र का प्रयोग आगम के विशेषण के रूप में भी होता हैं। इसका सम्वन्ध प्रधानतया संकलना से है। भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया (अथवा जो विस्तार है) वह अर्थागम और गणधरो ने उसे गुम्फित किया (अथवा जो संक्षेप है) वह 'सूत्रागम' और इन दोनो का समन्वित रूप 'तदुभयागम' कहलाता है।[4]

दोनो आगमो मे प्राप्त अन्तर का अध्ययन करने के वाद भी आचाराग की प्रथम चूला की पिण्डैषणा और भाष्यगत के निर्माण मे दशवैकालिक का योग है—इस अभिमत को अस्वीकार नही किया जा सकता।

दशवैकालिक की रचना आचाराग चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) पढने के वाद उत्तराध्ययन पढा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के वाद पढा जाने लगा।

१–वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद, पृष्ठ १०८ :
यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतससर्गो मानान्तरेण न वाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्।

२–दशवैकालिक चूलिका, २।११
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू।

३–(क) अनुयोगद्वार, सूत्र ५१
सुयसुत्तगंथसिद्धंत सासणे आण वयण उवएसे।
पन्नवण आगमेवि य एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥

(ख) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८९७।

४–अनुयोगद्वार, सूत्र ७०४ :
अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुत्तागमे अत्थागमे तदुभयागमे।

प्राचीन काल में 'आमगंध' (आचारांग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्डकल्पी (भिक्षाग्रही) होते थे। फिर वे दशवैकालिक की 'पिण्डैषणा' के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचाराग चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नही होता।

इसमे भी यह प्रमाणित होता है कि आचाराग चूला की रचना दशवैकालिक के बाद हुई है।

आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान :

आगमो के मुख्य वर्ग दो है—अंग प्रविष्ट और अंग-बाह्य।[1] बारह आगम अंग-प्रविष्ट कहलाते है—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, विवाह-प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक-दशा, अन्तकृत्-दशा, अनुत्तरोपपातिक-दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद।[2] अंग-बाह्य के दो प्रकार हैं—आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त।[3] आवश्यक-व्यतिरिक्त के दो प्रकार है—कालिक और उत्कालिक।[4] उत्कालिक के अन्तर्गत अनेक आगम है। उनमें पहला नाम दशवैकालिक का है।[5] दशवैकालिक आगम-पुरुष की रचना है, इसलिए यह आगम है। गणधर-रचित आगम ही अंग-प्रविष्ट होते है और यह स्थविर-रचित है इसलिए अंग-बाह्य है। कालिक-आगम दिन और रात के प्रथम और

१—नंदी, सूत्र ६७ :

अहवा तं समासओ दुविहं पन्नत्तं, तंजहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

२—वही, सूत्र ७४

से किं तं अंगपविट्ठं? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तंजहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाणं ३, समवाओ ४, विवाहपन्नत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगदसाओ ७, अंतगडदसाओ ८, अणुत्तरोववाइयदसाओ ९, पण्हावागरणाइं १०, विवागसुयं ११, दिट्ठिवाओ १२।

३—वही, सूत्र ६८ :

से किं तं अंगबाहिरं? अगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—आवस्सयं च, आवस्सयवइरित्तं च।

४—वही, सूत्र ७० :

से किं तं आवस्सयवइरित्तं? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तंजहा—कालियं उक्कालियं च।

५—वही, सूत्र ७१ :

से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—दसवेयालियं ··।

चरम प्रहर में ही पढे जा सकते हैं। किन्तु दशवैकालिक उत्कालिक आगम है इसलिए यह अस्वाध्यायी के अतिरिक्त सभी प्रहरो में पढा जा सकता है। व्याख्या की दृष्टि से आगम चार भागो में विभक्त किए गए हैं—

१—चरणकरणानुयोग
३—गणितानुयोग
२—धर्मकथानुयोग
४—द्रव्यानुयोग

भगवान् महावीर से लेकर आर्यरक्षित से पहले तक यह विभाग नही था। पहले एक साथ चारो अनुयोग किए जाते थे। आर्यरक्षित ने बुद्धि-कौशल की कमी देख अनुयोग के विभाग कर दिए। उसके बाद प्रत्येक अनुयोग को अलग-अलग निरूपण करने की परम्परा चली। इस परम्परा के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग में होता है।[१] इसमें चरण (मूलगुण[२]) और करण (उत्तरगुण[३]) इन दोनो का अनुयोग है। आगे चलकर आगमों का और वर्गीकरण हुआ। उसके अनुसार अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के अतिरिक्त मूल और छेद — ये दो वर्ग और किए गए। दशवैकालिक 'मूल' आगम सूत्र माना जाता है।[४]

१—अगस्त्य चूर्णि

उद्दिट्ठ-समुद्दिट्ठ-अणुण्णा तस्स अणुयोगो भवति तेण अहिगारो। सो चउव्विहो, तंजहा—चरणकरणाणुओगो सो य कालिय सुयादि १, धम्मणुओगो इसि-भासियादि २, गणियाणुओगो सूरपण्णत्तियादि ३, दवियाणुओगो दिट्ठिवादो ४, स एव समासओ दुविहो पुहत्ताणुओगो अपुहत्ताणुओगो य। ज एक्कतपट्ठवित्ते चत्तारि वि भासिज्जंति एतं अपुहत्तं, तं पुण भट्टारगाओ जाव अज्जवइरा। ततो आरेण पुहत्त जत्थ पत्तेय पभासिज्जत्ति। भासणाविहिपुहत्तकरणं अज्जरक्खिय पूसमित्ततिकविंझादिविसेसत्ता भण्णति। इह चरणकरणाणुओगेण अधिकारो।

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२ :

चरणं मूलगुणा।

वय समण-धम्म संयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।

णाणाइतियं तव, कोहनिग्गहाई चरणमेयं॥

३—वही, गाथा ५६३

करणं उत्तरगुणा।

पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा इ इंदियनिरोहो।

पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करण तु॥

४—देखो—'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि' की भूमिका, पृ० १-९।

नामकरण :

प्रस्तुत आगम के दो नाम उपलब्ध होते है—दसवेयालिय[1] (दशवैकालिक) और दसकालिय[2] (दशकालिक) ।

यह नाम 'दस' और 'वैकालिक' या 'कालिक' इन दो पदो से बनता है। दस (दश) शब्द इसके अध्ययनों की संख्या का सूचक है । इनकी पूर्ति विकाल-वेला मे हुई इसलिए इसे वैकालिक कहा गया । सामान्य विधि के अनुसार आगम-रचना पूर्वाह्न में की जाती है किन्तु मनक को अल्पायु देख आचार्य शय्यम्भव ने तत्काल—अपराह्न में ही इसका उद्धरण शुरू किया और यह विकाल में पूरा हुआ ।

स्वाध्याय का काल चार प्रहर—दिन और रात के प्रथम और अंतिम प्रहर—का है । यह स्वाध्याय-काल के बिना (विकाल में) भी पढा जा सकता है, इसलिए इस आगम का नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है ।

यह चतुर्दश-पूर्वी-काल से आया हुआ है अथवा काल को लक्ष्य कर किया हुआ है, इसलिए इसका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया है ।

इसका दसवाँ अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त मे रचा हुआ है, इसलिए इसका नाम 'दसवैतालिय' हो सकता है ।

ये अगस्त्य चूर्णि के अभिमत हैं ।[3]

१—(क) नंदी, सूत्र ४६ ।
(ख) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६ ।

२—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १,७,१२,१४,१५ ।

३—अगस्त्य चूर्णि :

उभयपद निप्फण्णं नामं दसकालियं । तत्थ कालादागयं विसेसिज्जति चोद्दस-पुव्विकालातो भगवतो वा पंचमातो पुरिसजुगातो, 'तत आगत.' (पाणि० ४।३।७४) इति उप्रत्यय., कालं व सव्वपज्जाहिं परिहीयमाणमभिक्खकयं एत्थ 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (पाणि० ४।३।८७) स एव उप्रत्यय तस्य इय आदेश, दशकं अज्झयणाणं कालिय निरुत्तेण विहिणा मकारलोपे कृते दसकालिय । अहवा वेकालियं मंगलत्थं पुव्वण्हे सत्थारंभो भवति, भगवया पुण अज्जसेज्जंभवेणं कहमवि अवरण्हकाले उवयोगो कतो, कालातिवायविग्घ-परिहरणाय निज्जूढमेय अतो विगते काले विकाले दसकमज्झयणाणं कतमिति दसवेकालियं चउपोरिसितो सज्झायकालो तम्मि विगते वि पढिज्जतीति विगय कालिय दसवेकालियं । दसमं वा वेतालियोपजातिवृत्तेहि णियमितमज्झयण-मिति दसवेतालियं ।

इनमें 'दसवेयालिय' और 'दसकालिय' प्रसिद्ध नाम है और जहाँ तक हम जानते हैं 'दसवेतालिय' का प्रयोग अगस्त्यसिंह मुनि के सिवाय अन्य किसी ने नही किया है। निर्युक्तिकार ने स्थान-स्थान पर 'दसकालिय' शब्द का प्रयोग किया है[1] और कही-कही 'दसवेयालिय' का भी।[2] जिनदास महत्तर ने केवल 'दसवेयालिय' शब्द की व्याख्या की है।[3] हरिभद्र सूरि ने 'दशकालिक' और 'दशवैकालिक' इन दोनो शब्दो का उल्लेख किया है।[4]

प्रश्न यह होता है कि आगमकार ने इसका नामकरण किया या नही ? यदि किया तो क्या ?

मूल आगम में 'दशवैकालिक' या 'दशकालिक' नाम का उल्लेख नही है। इसकी रचना तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई थी। मनक के देहावसान के बाद शय्यम्भव इसे जहाँ से उद्धृत किया, वही अन्तर्निविष्ट कर देना चाहते थे। इसलिए सम्भव है, रचना के लिए कोई नाम न रखा हो। जब इसे स्थिर रूप दिया गया, तब आगमकार के द्वारा ही इसका नामकरण किया जाना सम्भव है।

उपयोगिता और स्थापना :

मनक ने छह मास मे दशवैकालिक पढा और वह समाधिपूर्वक इस ससार से चल बसा। वह श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना कर सका, इसका आचार्य को हर्ष हुआ। आँखो में आनन्द के आँसू छलक पडे। यशोभद्र (जो उनके प्रधान शिष्य थे) ने बडे आश्चर्य के साथ आचार्य को देखा और विनयावनत हो इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—"मनक मेरा ससारपक्षीय पुत्र था, इसलिए कुछ स्नेह-भाव उमड आया। वह आराधक हुआ, यह सोच मन आनन्द से भर गया। मनक की आराधना के लिए मैंने इस आगम (दशवैकालिक) का निर्यूहण किया। वह आराधक हो गया। अब इसका क्या किया जाय ?" आचार्य के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न पर संघ ने विचार किया और आखिर यही निर्णय हुआ कि इसे यथावत् रखा जाय। यह मनक जैसे अनेक मुनियो की आराधना

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १,७,१२,१४,१५।

२—वही, गाथा ६।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ५।

४—दश० हारिभद्रीय टीका, पत्र १२।

का निमित्त बनेगा, इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।[1] इस निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का वर्तमान रूप अध्ययन-क्रम में जोडा गया। महानिशीथ (अध्ययन ५, दुषमारक प्रकरण) के अनुसार पाँचवें आरे (दुषमकाल) के अन्त में जब अंग-साहित्य विच्छिन्न हो जाएगा, तब दुप्पसह मुनि केवल दशवैकालिक के आधार पर संयम की आराधना करेंगे।

१—दश० हारिभद्रीय टीका, पत्र २८४ :

आणंदअंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहि थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे ॥३७१॥

"विचारणा सघ" इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे—कालह्रासदोषात प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमनस्तिष्ठत्वेत दित्येवंभूता स्थापना।

२—दशवैकालिक के कर्त्ता और रचनाकाल

रचनाकार का जीवन-परिचय :

राजगृह में शय्यम्भव नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अनेक विद्याओ का पारगामी विद्वान् था। प्रभवास्वामी ने अपने दो साधुओ को उसकी यज्ञशाला में भेजा। साधु वहाँ पहुंचे और धर्म-लाभ कहा। आचार्य की शिक्षा के अनुसार वे बोले—"अहो कष्टमहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते परम्।" शय्यम्भव ने यह सुना और सोचा—ये उपशान्त तपस्वी असत्य नही बोलते। अवश्य ही इसमें रहस्य है। वह उठा और अपने अध्यापक के पास जाकर बोला—"कहिए तत्त्व क्या है ?" अध्यापक ने कहा—"तत्त्व वेद हैं।" शय्यम्भव ने तलवार को म्यान से निकाला और कहा—"या तो तत्त्व बतलाइए अन्यथा इसी तलवार से सिर काट डालूँगा।"

अध्यापक ने सोचा अब समय आ गया है। वेदार्थ की परम्परा यह है कि सिर काट डालने का प्रसंग आए तब कह देना चाहिए। अब यह प्रसंग उपस्थित है, इसलिए मैं तत्त्व बतला रहा हूँ। अध्यापक ने कहा—"तत्त्व आर्हत्-धर्म है।" वह आगे बढा और यूप के नीचे जो अरिहत की प्रतिमा थी उसे निकाल शय्यम्भव को दिखाया। वह उसे देख प्रतिबुद्ध हो गया।[१] शय्यम्भव ने अध्यापक के चरणो में वन्दना की और संतुष्ट होकर यज्ञ की सारी सामग्री उसे भेंट में दे दी। वह चला और मुनि-युगल को खोजते-खोजते वही जा पहुँचा, जहाँ उसे पहुँचना था। अपनी गर्भवती युवती पत्नी को छोड २८ वर्ष की अवस्था में उसने प्रभव स्वामी के पास प्रव्रज्या ले ली।

दशवैकालिक की व्याख्याओ में उनके जीवन का यह परिचय मिलता है।[२] परिशिष्ट-पर्व (सर्ग ५) में भी लगभग यही वर्णन है। इस वर्णन के कुछेक तथ्यो के आधार पर उनके पूर्ववर्ती जीवन की स्थूल-रूपरेखा हमारे सामने आ जाती है।

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १४।

२—दश० हारिभद्रीय टीका, पत्र १०,१२।

निर्यूहण या लघुकरण :

प्रस्तुत आगम के कर्त्ता शय्यम्भव सूरि माने जाते हैं ।[1] निर्युक्तिकार के अनुसार यह उनकी स्वतंत्र रचना नही, किन्तु संकलना है । संकलना के बारे में दो विचार मिलते है । पहले के अनुसार प्रस्तुत सूत्र का विषय पूर्वों से उद्धृत कर संकलित किया गया है ।[2] दूसरी धारणा के अनुसार यह द्वादशांगी से उद्धृत हुआ है ।[3] इन दोनो विचार-धाराओ के स्रोत की जानकारी का कोई साधन प्राप्त नहीं है । निर्युक्ति में इन दोनों का उल्लेख है और शेष व्याख्याकारों ने उसी का अनुगमन किया है । शय्यम्भव सूरि चतुर्दश पूर्वधर थे, इसलिए उनकी रचना को आगम माना जाता है। जयाचार्य के अनुसार चतुर्दश-पूर्वी और दशपूर्वी की वही रचना आगम हो सकती है, जो केवलज्ञानी के समक्ष की जाए ।[4] इसके आधार पर उनकी कल्पना यह है कि पूर्वों के आधार पर रचित दश-वैकालिक का बृहत् कलेवर था, उसका शय्यम्भव सूरि ने लघुकरण किया है ।[5] इस कल्पना का कोई स्पष्ट साहित्यिक आधार प्राप्त नही है । किन्तु दशवैकालिक के नियत और अनियत रूप की चर्चा से उक्त कल्पना की पुष्टि होती है । भगवान् महावीर के चौदह

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १४

सेज्जंभवं गणधरं जिणपडिमादंसणेण पडिवुद्धं ।
मणगपिअरं दसकालियस्स निज्जूहगं वंदे ॥

२—वही, गाथा १६,१७ :

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नती ।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

३—वही, गाथा १८ :

(क) बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥

(ख) अगस्त्य चूर्णि :
वितियादेसो वारसंगातो जं जतो अणुरूवं ।

४—प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, १९।९,१० ।

५—(क) वही, ८।२१,२२ ।
(ख) भगवती की जोड, २५।३ ढाल ४३८ का वार्तिक ।

हजार प्रकीर्णककार साधु थे और उन्होने चौदह हजार प्रकीर्णको की रचना की ।[1] मलयगिरि ने 'एवमाइयाइं' (नन्दी सूत्र ४६) की व्याख्या में उत्कालिक और कालिक—दोनो प्रकार के आगमो को प्रकीर्णक माना है ।[2] उत्कालिक सूत्रों की गणना में दशवैकालिक का स्थान पहला है । इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय दशवैकालिक नाम का कोई प्रकीर्णक रहा हो और शय्यम्भव सूरि ने प्रयोजनवश उसका रूपान्तर किया हो । टीका में भी इसके नियत और अनियत रूप की चर्चा का उल्लेख मिलता है । किसी ने पूछा—दशवैकालिक नियत-श्रुत है ? कारण कि ज्ञात-धर्मकथा के उदाहरणात्मक अध्ययन, ऋषि-भाषित और प्रकीर्णक श्रुत अनियत होता है । शेष सारा श्रुत प्राय नियत होता है । दशवैकालिक नियत-श्रुत है । उसमें राजीमती और रथनेमि का अभिनव उदाहरण क्यो ? इसके समाधान में टीकाकार ने लिखा है कि नियत-श्रुत का विषय प्राय नियत होता है, सर्वथा नही । इसलिए इस अभिनव उदाहरण का समावेश आपत्तिजनक नही है ।[3]

इस प्रमाण के आधार पर जयाचार्य की कल्पना को महत्त्व दिया जा सकता है । इसका फलित यह होगा कि शय्यम्भव सूरि ने दशवैकालिक के वृहत् रूप का लघुकरण किया है । तात्पर्य की दृष्टि से देखा जाए तो इन तीनो मान्यताओ के फलितार्थ में कोई अन्तर नही है । शय्यम्भव सूरि ने चाहे चौदह पूर्वों से या द्वादशांगी से इसे उद्धृत किया हो, चाहे इसके वृहत् रूप को लघु रूप दिया हो, इसकी प्रामाणिकता मे कोई बाधा नही आती । निर्यूहण (उद्धरण) और लघुकरण ये दोनो रूपान्तर है । प्रामाणिकता की दृष्टि से इन दोनों प्रक्रियाओ में कोई अन्तर नही है । प्रयोजनवश आगम-पुरुष को ऐसा अधिकार भी है ।

१—नन्दी, सूत्र ४६

चोद्दस-पइन्नगसहस्साइं भगवओ वद्धमाणसामिस्स ।

२—वही, सूत्र ४६ वृत्ति

प्रकीर्णकरूपाणि चाऽध्ययनानि कालिकोत्कालिकभेदभिन्नानि ।

३—दश० हारिभद्रीय टीका, पत्र ९९

अपरस्त्वाह—दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव, यत उक्तम्—

णायज्झयणाहरणा, इसिभासियाओ पइन्नयसुया य ।
एस होंति अणियया, णिययं पुण सेसमुवस्सन्नं ॥
तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यते इति ?, उच्यते, एवम्भूतायस्यैव नियतश्रुतेऽपि भावाद्, उत्सन्नग्रहणाच्चादोष, प्रायो नियतं, न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थ ।

रचना का उद्देश्य :

शय्यम्भव सूरि भगवान् महावीर के चतुर्थ पट्टधर थे। वे पत्नी को गर्भवती छोड़कर दीक्षित हुए। पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम मनक रखा गया। वह आठ वर्ष का हो गया। एक दिन उसने अपनी माँ से पिता के बारे में पूछा। माँ ने बताया—"बेटा! तेरे पिता मुनि बन गए। वे अब आचार्य है और अभी-अभी चम्पा नगरी में विहार कर रहे है।" मनक ने माँ से अनुमति ली और चम्पा नगरी जा पहुँचा। आचार्य शौच जाकर आ रहे थे, बीच में ही मनक मिल गया। आचार्य के मन में कुछ स्नेह का भाव जागा और पूछा—"तू किसका बेटा है?" "मेरे पिता का नाम शय्यम्भव ब्राह्मण है", मनक ने प्रसन्न मुद्रा में कहा। आचार्य ने पूछा—"अब तेरे पिता कहाँ हैं?" मनक ने कहा—"वे अब आचार्य हैं और इस समय चम्पा में है।" आचार्य ने पूछा—"तू यहाँ क्यो आया?" मनक ने उत्तर दिया—"मैं भी उनके पास प्रव्रज्या लूँगा" और उसने पूछा—"क्या तुम मेरे पिता को जानते हो?" आचार्य ने कहा—"मैं केवल जानता ही नही हूँ किन्तु वह मेरा अभिन्न (एक शरीरभूत) मित्र है। तू मेरे पास ही प्रव्रजित हो जा।" उसने यह स्वीकार कर लिया। संभव है कि शय्यम्भव ने सारा रहस्य उसे समझा दिया और पिता-पुत्र के सम्बन्ध को प्रकट करने का निषेध कर दिया। आचार्य स्थान पर चले आए। उसे प्रव्रजित किया। आचार्य ने विशिष्ट ज्ञान से देखा—"यह अल्पायु है। केवल छह मास और जीएगा। मुझे इससे विशिष्ट आराधना करानी चाहिए"—यह सोच उन्होंने मनक के लिए एक नए आगम का निर्माण करना चाहा। विशेष प्रयोजन होने पर चतुर्दश-पूर्वी और अपश्चिम दशपूर्वी निर्यूहण कर सकते हैं। आचार्य ने सोचा—"मेरे सम्मुख यह विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ है। इसलिए मुझे भी निर्यूहण करना चाहिए।"[1] यही प्रेरणा दशवैकालिक के वर्तमान रूप का निमित्त बनी।

रचना-काल :

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी बीस वर्ष तक जीवित रहे।[2] उनके उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी थे। उनका आचार्य-पद चौवालीस वर्ष रहा।[3] तीसरे

१—दश० हारिभद्रीय टीका, पत्र १२ :

त चउद्दसपुव्वी कम्हिवि कारणे समुप्पन्ने णिज्जूहति, दसपुव्वो पुण अपच्छिमो अवस्समेव णिज्जूहइ, ममंपि इम कारणं समुप्पन्नं तो अहमवि णिज्जूहामि, ताहे आढत्तो णिज्जूहिउं . . . ।

२—पट्टावलि समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली), पृष्ठ ४२

श्री वीराद्विंशत्या वर्षैः सिद्धि गत ।

३—वही, पृष्ठ ४२ . श्रीवीरात् चतुःषष्टिवर्षैः सिद्धः ।

आचार्य प्रवर स्वामी हुए। उनका आचार्य-काल ग्यारह वर्ष का है। प्रभव स्वामी ने एक दिन अपने उत्तराधिकारी के बारे में सोचा। अपने गण और संघ को देखा तो कोई भी शिष्य आचार्य-पद के योग्य नही मिला। फिर गृहस्थो की ओर ध्यान दिया। राजगृह में शय्यम्भव ब्राह्मण को यज्ञ करते देखा। वे उन्हें योग्य जान पडे। आचार्य राजगृह आए। शय्यम्भव के पास साधुओ को भेजा। उनसे प्रेरणा पा वे आचार्य के पास आए, सम्बुद्ध हुए और प्रव्रजित हो गए।

प्रभव स्वामी का आचार्य-काल ग्यारह वर्ष का है[1] और शय्यम्भव के मुनि-जीवन का काल ग्यारह वर्ष का है। वे अठाईस वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में रहे, ग्यारह वर्ष मुनि-जीवन में रहे, तेईस वर्ष आचार्य या युग-प्रधान रहे। इस प्रकार ६२ वर्ष की आयु पाल कर वीर-निर्वाण सं० ९८ मे दिवगत हुए।[2] उक्त विवरण से जान पडता है कि प्रभव स्वामी के आचार्य होने के थोडे समय पश्चात् ही शय्यम्भव मुनि बन गए थे, क्योकि उनका आचार्य-काल और शय्यम्भव का मुनि-काल समान है—दोनों की अवधि ग्यारह-ग्यारह वर्ष की है। वीर-निर्वाण के ३६ वें वर्ष में शय्यम्भव का जन्म हुआ और ६४ वें वर्ष तक घर में रहे। मुनि होने के ८ या ८½ वर्ष के पश्चात् मनक के लिए दशवैकालिक का निर्यूहण किया।[3] इस प्रकार दशवैकालिक का रचना-काल वीर-निर्वाण सम्वत् ७२ के आसपास उपलब्ध होता है और यह प्रभव स्वामी की विद्यमानता में निर्यूढ किया गया, यह उक्त काल-गणना से स्पष्ट है।

दशवैकालिक का रचना-काल डा० विन्टरनित्ज ने वीर-निर्वाण के ९८ वर्ष बाद माना है।[4] प्रो० एम० वी० पटवर्धन का भी यही मत रहा है।[5] किन्तु यह काल-निर्णय पट्टावली के कालानुक्रम से नही मिलता।

१—पट्टावलि समुच्चय (प्र०भा) (तपागच्छ पट्टावली), पृष्ठ ४३ .
 व्रतपर्याये एकादश युगप्रधानपर्याये चेति।

२—वही, पृष्ठ ४३ :
 स चाष्टाविंशतिवर्षाणि गृहस्थपर्याये, एकादश व्रते, त्रयोविंशतिर्युगप्रधानपर्याये चेति सर्वायुर्द्विषष्ठिवर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरादष्टनवतिवर्षातिक्रमे स्वर्गभाक्।

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र ११,१२
 जया सो अट्ठवरिसो जाओ ताहे सो मातरं पुच्छइ को मम पिओ ?, सा भणइ तव पिओ पव्वइओ, ताहे सो दारओ णासिऊण पिउसगासं पट्ठिओ सो पव्वइओ।

४—A History of Indian Literature, Vol II, page 47, F N 1

५—The Daśavaikālika-Sūtra A Study, page 9

३–रचना-शैली

दशवैकालिक रचना की दृष्टि से वास्तव में ही सूत्र है। पारिभाषिक शब्दों में अर्थ को बहुत ही संक्षेप में गूँथा गया है। मनक को थोड़े में बहुत देने के उद्देश्य से इसकी रचना हुई, उसमें रचनाकार बहुत ही सफल हुए हैं। विषय के वर्गीकरण की दृष्टि से भी इसका रचनाक्रम बहुत प्रशस्त है। आदि से अन्त तक धर्म और धार्मिक की विशेषता का निरूपण है। उसे पढ कर यह सहजतया बुद्धिगम्य हो सकता है कि धार्मिक धर्म का स्पर्श कैसे करे और अधर्म से कैसे बचे ?

इसका अधिकांश भाग पद्यात्मक है और कुछ भाग गद्यात्मक। गद्य भाग के प्रारम्भ में उत्तराध्ययन की शैली का अनुसरण है।[1] गद्य-भाग के बीच-बीच में गद्योक्त विषय का संग्रह पद्यों में किया है।[2] ऐसी शैली उपनिषदों में रही है।[3]

१–(क) उत्तराध्ययन, २९।१ .

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।

(ख) दशवैकालिक, ४। सूत्र १ .

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता।

(ग) उत्तराध्ययन, १६। सूत्र १ .

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहि दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता।

(घ) दशवैकालिक, ९।४। सूत्र १ :

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता।

२–दशवैकालिक, ९।४।

३–प्रश्नोपनिषद्, ६।५,६

स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता।

तं वेद्यं पुरुषं वेद (यथा) मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥

विषय को स्पष्ट करने के लिए उपमाओ का भी यथेष्ट प्रयोग किया है। रथनेमि और राजीमती की घटना के सिवाय अन्य किसी घटना का इसमें स्पष्ट उल्लेख नही है। कही-कही घटना के सकेत अवश्य दिए हैं। ५।२।५ में क्रिया व पुरुष का आकस्मिक परिवर्तन पाठक को सहसा विस्मय में डाल देता है। यदि चूर्णिकार ने इस श्लोक की पृष्ठभूमि में रही हुई घटना का उल्लेख न किया होता, तो यह श्लोक व्याकरण की दृष्टि से अवश्य ही विमर्शनीय बन जाता।

इसी प्रकार १।४ में हुआ उत्तमपुरुष का प्रयोग भी सम्भव है किसी घटना से सम्बद्ध हो, पर किसी भी व्याख्या में उसका उल्लेख नही है।

अनुष्टुप् श्लोक वाले कुछ अध्ययनो के अंत भाग में उपजाति आदि वृत्त रख कर आचार्य ने इसे महाकाव्य की कोटि में ला रखा (देखिए अध्ययन ६,७ और ८)। कही-कही प्रश्नोत्तरात्मक-शैली का भी प्रयोग किया गया है (देखिए ४।७-८)। परन्तु ये प्रश्न आगमकर्त्ता ने स्वयं उपस्थित किए हैं या किसी दूसरे व्यक्ति ने, इसका कोई समाधान नही मिलता। बहुत सम्भव है कि मुमुक्षु कैसे चले ? कैसे खडा रहे ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए और कैसे बोले ?—ये प्रश्न आचार्य के सामने आते रहे हो और रचना के प्रसंग आने पर आचार्य ने उनका स्थायी समाधान किया हो।

गृहस्थ और मुनि के चलने-बोलने आदि में अहिंसा की मर्यादा का बहुत बडा अन्तर होता है, इसलिए प्रव्रज्या ग्रहण के अनन्तर आचार्य नव-दीक्षित श्रमण को चलने-बोलने आदि की विधि का उपदेश देते हैं। भगवान् महावीर ने महाराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को दीक्षित कर आचार-गोचर और विनय का उपदेश देते हुए कहा—"देवानुप्रिय! अब तुम श्रमण हो, इसलिए तुम्हें युग-मात्र भूमि को देख कर चलना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।३), निर्जीव-भूमि पर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खडा रहना चाहिए, (मिलाइए ८।११, १३), जीव-जन्तु रहित भूमि को देख कर, प्रमार्जित कर बैठना चाहिए (तुलना कीजिए ८।५,१३), जीव-जन्तु रहित भूमि पर सामायिक या चतुर्विंशस्तव का उच्चारण और शरीर का प्रमार्जन कर सोना चाहिए (मिलाइए ८।१३), साधर्मिको को निमन्त्रण दे समभाव से खाना चाहिए (तुलना कीजिए ५।१।९४-९६, १०।९), हित, मित और निरवद्य भाषा बोलनी चाहिए (देखिए ७ वाँ अध्ययन) और संयम में सावधान रहना चाहिए। इसमें थोडा भी प्रमाद नही होना चाहिए।"[1]

१—ज्ञाताधर्मकथा, १। सू० ३०

तए णं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमार सयमेव पव्वावेइ सयमेव आयार जाव धम्माइक्खई, एवं देवाणुप्पिया! गंतव्वं चिट्ठियव्वं णिसीयव्वं तुयट्टियव्वं भुंजियव्वं भासियव्वं एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेण सजमियव्वं अस्सिं च ण अट्ठे नो पमादेयव्वं।

आचार्य शय्यम्भव ने इस सूत्र के द्वारा मनक को वही उपदेश दिया, जो भगवान् ने मेघकुमार को दिया था। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर नव-दीक्षित श्रमणो को जो प्रारम्भिक उपदेश देते थे, उसे आचार्य शय्यम्भव ने प्रशस्त शैली में संकलित कर दिया। उक्त श्लोको के अगले अध्ययनो में आचार-संहिता की आधारभूत इन्ही (चलने-बोलने आदि की) प्रवृत्तियो का विस्तार है। उत्तराध्ययन,[1] धम्मपद,[2] महाभारत[3] आदि के लक्षण-निरूपणात्मक-अध्यायो में व्यवस्थित शैली का जो रूप है, वह दशवैकालिक में भी उपलब्ध होता है (देखिए ६।३ में पूज्य और १०वें में भिक्षु के लक्षणो का वर्गीकरण)।

इसकी रचना प्राय सूत्र रूप है, पर कही-कही व्याख्यात्मक भी है। अहिंसा, परिग्रह आदि की बहुत ही नपे-तुले शब्दो मे परिभाषा और व्याख्या यहाँ मिलती है (देखिए ६।८ , ६।२०)।

कही-कही अनेक श्लोको का एक श्लोक में सक्षेप किया गया है। इसका उदाहरण आठवें अध्ययन का २६ वाँ श्लोक है—

कण्णसोक्खेहिं सद्दे हिं पेम नाभिनिवेसए।
दारुण कक्कसं फासं काएण अहियासए।

यहाँ आदि और अन्त का अर्थ प्रतिपादित किया गया है। पूर्ण रूप में उसका प्रतिपादन पाँच श्लोको के द्वारा हो सकता है। निशीथभाष्य चूर्णि[4] तथा बृहद्कल्पभाष्य वृत्ति[5] में इस आशय का उल्लेख और पाँच श्लोक मिलते है—

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुण कक्कसं सद्द सोएणं अहियासए॥

चक्खुकंतेहिं रूवेहिं पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं रूव चक्खुणा अहियासए॥

घाणकंतेहिं गधेहिं पेम्मं णाभिणिवेसते।
दारुण कक्कस गध घाणेणं अहियासए॥

१–१५ वे मे भिक्षु और २५ वें मे ब्राह्मण के लक्षणो का निरूपण।
२–ब्राह्मण वर्ग। यह मौलिक नही, किन्तु संकलित है।
३–शान्ति पर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २४५।
४–निशीथभाष्य चूर्णि भाग ३, पृष्ठ ४८३।
५–बृहद्कल्प, भाग २, पृष्ठ २७३,२७४।

जीहकतेहिं रसेहिं पेम्मं णाभिणिवेसते ।
दारुण कक्कसं रस जीहाए अहियासए ॥
सुहफासेहिं कंतेहिं पेम्मं णाभिणिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फास काएण अहियासए ॥

यद्यपि आप्त-पुरुष की वाणी में विधि-निषेध के प्रयोजन का निरूपण आवश्यक नही होता, उसका क्षेत्र तर्कवाद है, किन्तु प्रस्तुत आगम में निषेध के कारणों को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से समझाया गया है (देखिए अध्ययन ५,६ और १०) ।

थोड़े में इसकी शैली न तो गद्य-पद्यात्मक रचना-काल जैसी प्राचीन, संक्षिप्त और रूपक-मय है और न पूर्ण आधुनिक ही । मध्य-कालीन आगमों की रचना-शैली से कुछ भिन्न होते हुए भी अधिकांश में अभिन्न है ।

४–व्याकरण-विमर्श

आगमिक प्रयोगो को व्याकरण की कसौटी से कसा जाय तो वे सब के सब खरे नही उतरेंगे। इसीलिए प्राकृत-व्याकरणकारो ने आगम के अलाक्षणिक प्रयोगो को आर्ष-प्रयोग कहा है।[१] प्रस्तुत आगम में अनेक अलाक्षणिक प्रयोग है।

परन्तु एक अक्षम्य भूल से बचने के लिए हमें एक महत्त्वपूर्ण विषय पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि उत्तर-कालीन व्याकरण की कसौटी मे पूर्ववर्ती प्रयोगों को कसने की मनोवृत्ति निर्दोष नहीं है। भाषा का प्रवाह और उसके प्रयोग काल-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते है। उन्हें कोई भी एक व्याकरण बांध नही सकता। आगमिक प्रयोगो का मुख्य आधार पूर्वान्तर्गत शब्द-शास्त्र रहा है। उसके कुछ एक संकेत आज भी आगमो में मिलते है। स्थानाग में शुद्ध-वचन-अनुयोग के दस प्रकार बतलाए है। उन पर ध्यान देने से पता चलता है कि जिन आगमिक प्रयोगो को उत्तर-कालीन व्याकरण की दृष्टि से अलाक्षणिक प्रयोग कहते है, उन्हें आगमकार शुद्ध-वाक्-अनुयोग कहते है।[२] 'वत्थगन्धमलकारं' (२।२)की व्याख्या में हरिभद्र सूरि ने 'मलकार' के 'म' को अलाक्षणिक माना है।[३] किन्तु मकारानुयोग की दृष्टि से यह प्रयोग आगमिक व्याकरण या तात्कालिक प्रयोग-परिपाटी से सम्मत है, इसलिए अलाक्षणिक नही है।[४] इसी प्रकार विभक्ति और वचन का संक्रमण भी सम्मत है।[५] पाणिनि और हेमचन्द्र ने इस व्यत्यय को अपने व्याकरणो में भी स्थान दिया है।[६] आगमिक प्रयोगो में विभक्ति रहित भी प्रयोग मिलते हैं—'गिण्हाहि साहुगुण मुचऽसाहू" (९।३।११)—यहाँ गुण शब्द

१–हेमशब्दानुशासन, आर्षम् ८।१।३

२–स्थानांग, १०।७४४ :

दसविधे सुद्धवाताणुओगे पन्नत्ते तंजहा—चंकारे (१), मंकारे (२), पिंकारे (३), सेतंकारे (४), सातंकारे (५), एगत्ते (६), पुधत्ते (७), संजूहे (८), संकामिते (९), भिन्ने (१०)।

३–हारिभद्रीय टीका, पत्र ९१ .

अनुस्वारोऽलाक्षणिक ।

४–स्थानांग, १०।७४४।

५–दशवैकालिक, भाग २ (मूल, सार्थ, सटिप्पण) पृष्ठ २७, टिप्पण ११।

६–हेमशब्दानुशासन, ८।४।४४७

वन्योन्या ।

द्वितीया का बहुवचन है (गृहाण साधुगुणान्) पर इसकी विभक्ति का निर्देश नही है। आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार के विभक्ति-लोप को 'आर्ष' कहा है।[1]

देशी शब्दो के प्रयोग भी यत्र-तत्र हुए है। हमने उनकी संस्कृत छाया नही की है। कही-कहीं टिप्पणियों में तदर्थक संस्कृत शब्द का उल्लेख किया है।

जिस प्रकार वैदिक प्रयोग लौकिक सस्कृत से भिन्न रहे है, उसी प्रकार आगमिक प्रयोग भी लौकिक प्राकृत से भिन्न रहे हैं। उन्हें सामयिक प्रयोग कहा जा सकता है। मलयगिरि के अनुसार जो शब्द अन्वर्य-रहित और केवल समय (आगम) में ही प्रसिद्ध हो, वह सामयिक कहलाता है।[2] प्रस्तुत आगम में 'पिण्ड'[3] और 'परिहरन्ति'[4] आदि सामयिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। सामयिक नाम का आधार सम्भवत स्थानाग का सामयिक व्यवसाय है। वहाँ व्यवसाय के तीन प्रकार किए है—लौकिक, वैदिक और सामयिक।[5]

व्याकरण की दृष्टि से मीमासनीय शब्दो को हमने ग्यारह भागो में विभक्त किया है—संधि, कारक, वचन, समास, प्रत्यय, लिंग, क्रिया और अर्द्ध-क्रिया, क्रिया-विशेषण, आर्ष-प्रयोग, विशेष विमर्श तथा क्रम-भेद। उनका क्रमश विवरण इस प्रकार है —

१—सन्धि

एमेए (१।३)

इसमें 'एवं' और 'एते'—ये दो शब्द है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार श्लोक-रचना की दृष्टि से 'एव' के 'व' का लोप हुआ है।[6] प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' रूप 'एमेव' बनता है।[7] सभव है 'एमेव' ही आगे चल कर 'एमेए' बन गया हो।

१—पिण्ड निर्युक्ति, गाथा १ वृत्ति
इंगालधूमकारण—सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्।

२—वही, गाथा ६ वृत्ति
गोण्णं समयकयंवा—तथा समयजं यदन्वर्थरहित समय एव प्रसिद्धं यथौदनस्य-प्राभृतिकेति।

३—दशवैकालिक, भाग २ (मूल, सार्थ, सटिप्पण) पॉचवें अध्ययन का आमुख, पृष्ठ १९३,१९५-१९६।

४—दशवैकालिक ६।१९।

५—स्थानांग, ३।३।१८५.
तिविहे ववसाए पन्नत्ते तजहा—लोइए वेइए सामइए।

६—अगस्त्य चूर्णि वकार लोपो सिलोगपायाणुलोमेणं।

७—हेमशब्दानुशासन, ८।१।२७१
यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारक-देवकुलैवमेवेव।

वीयं (८।३१)

प्राकृत में कहीं-कहीं एक पद में भी संधि हो जाती है। इसी के अनुसार यहाँ 'विइओ' का 'वीओ' बना है।[1]

हृस्व का दीर्घीकरण—

अन्नयरामवि (६।१८)

इसमें रकार दीर्घ है।

बहुनिवट्टिमा फला (७।३३)

इसमें मकार दीर्घ है।

२—कारक

अच्छन्दा (२।२)

इसका प्रयोग कर्तृवाचक बहुवचन में हुआ है, पर उसे कर्मवाचक बहुवचन में भी माना जा सकता है। इस स्थिति में वह वस्त्र आदि वस्तुओं का विशेषण होगा।[2]

अज्झयणं धम्मपन्नत्ती (४। सूत्र१)

अध्ययन होने से—अध्ययन की प्राप्ति के द्वारा चित्त-विशुद्धि का हेतु होने से, धर्म-प्रज्ञप्ति होने से—धर्म की प्रज्ञापना के द्वारा चित्त-विशुद्धि का हेतु होने से—ये दोनों हेतु है। निमित्त, कारण और हेतु में प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं, इसलिए यहाँ दोनों शब्दों में हेतु में प्रथमा विभक्ति है।[3]

अन्नत्थ सत्यपरिणएणं (४। सूत्र४)

अन्यत्र शब्द के योग में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे—अन्यत्र भीष्माद् गांगेयाद्, अन्यत्र च हनूमतः। अतः इसका संस्कृत रूप होगा-अन्यत्रशस्त्रपरिणतात्।

तस्स (४। सूत्र१०)

यहाँ सम्बन्ध या अवयव अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।[4]

१—हेमशब्दानुशासन, ८।१।५

पदयोः सन्धिर्वा।

२—दशवैकालिक, भाग २ (मूल सार्थ, सटिप्पण), पृष्ठ २६

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र १३८

निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां (विभक्तीनां)

प्रायो दर्शनमिति वचनात् हेतौ प्रथमा।

४—वही, पत्र १४४ :

सम्बन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी।

विभक्ति-विहीन—

इच्चेव (२।४)

यहाँ 'एव' शब्द के अनुस्वार का लोप हुआ है।[1]

कारणमुप्पन्ने (५।२।३)

यहाँ कारण में विभक्ति का निर्देश नही है। सप्तमी के स्थान में मकार अलाक्षणिक है।

व्यत्यय—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाण (४।सूत्र २)

यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।[2]

अन्नेन मग्गेण (५।१।६)

यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है।[3]

बीएसु हरिएसु (५।१।५७)

यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है।

मर्हिं (६।२४)

यहाँ सप्तमी के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है।

पीढए (७।२८)

यहाँ चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।

भोगेसु (८।३४)

यहाँ पचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है।[4]

१–हेमशब्दानुशासन, ८।१।२९

मांसादेर्वा अनेन 'एवं' शब्दस्य अनुस्वारलोप।

२–हारिभद्रीय टीका, पत्र १४३.

सुपा सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

३–वही, पत्र १६४.

छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया।

४–वही, पत्र २३३.

भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्य।

वुद्धवयणे (१०।६

यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है ।[1]

तस्स (चू०२।३)

यहाँ पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है ।[2]

गुणओ समं (चू०२।१०)

यहाँ तृतीया के अर्थ मे पचमी विभक्ति है ।[3]

कि मे कडं (चू०२।१२)

यहाँ 'मे' में तृतीया के अर्थ मे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।[4]

३—वचन

जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ (२।२)

'भुजन्ति' वहुवचन है और 'से चाइ' एकवचन । टीकाकार वहुवचन एकवचन की असंगति देख कर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते है—सूत्र की गति—रचना विचित्र प्रकार की होने से तथा मागधी का संस्कृत मे विपर्यय भी होता है, इसलिए ऐसा हुआ है ।[5]

'से चाइ' यहाँ वहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है—यह व्याख्याकारो का अभिमत है । अगस्त्यसिंह स्थविर ने वहुवचन के स्थान में एकवचन का आदेश माना है ।[6] जिनदास महत्तर ने एकवचन के प्रयोग का हेतु आगम रचना-शैली का वैचित्र्य

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र २६६ :

वुद्धवचन इति तृतीयार्थे सप्तमी ।

२—वही, पत्र २७९

तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी ।

३—वही, पत्र २८२ :

गुणत समं वा तृतीयार्थे पंचमी गुणैस्तुल्यं वा ।

४—वही, पत्र २८३ .

किं मे कृतमिति छान्दसत्वात तृतीयार्थे षष्ठी ।

५—वही पत्र ९१ :

किं वहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देश ?, विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययस्च भवत्येवेति कृत्वा ।

६—अगस्त्य चूर्णि ·

वहुवयणस्सत्याणे एगवयणमादिट्ठ ।

सुखमुखोच्चारण और ग्रन्थ-लाघव माना है ।[१] हरिभद्र ने वचन-परिवर्तन का कारण रचना-शैली की विचित्रता के अतिरिक्त विपर्यय और माना है ।[२] प्राकृत में विभक्ति और वचन का विपर्यय होता है ।

अभिहडाणि (३।२)

यह शब्द बहुवचनांत है । अभिहृत के स्वग्राम-अभिहृत, परग्राम-अभिहृत आदि प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग किया गया है ।

गिम्हेसु (३।१२)

ग्रीष्म-ऋतु में यह कार्य (आतापना) प्रति वर्ष करणीय है, इसलिए इसमें बहुवचन है ।[४]

मन्ने (६।१८)

प्राकृत शैली से यहाँ बहुवचन में एकवचन का प्रयोग है और साथ-साथ पुरुष-परिवर्तन भी है ।[५]

इसिणा (६।४६)

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एकवचन है ।[६] टीकाकार के अनुसार षष्ठी का बहुवचन ।[७]

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८२ :
विचित्तो सुत्तनिबंधो भवति, सुहमुहोच्चारणत्थं गंथलाघवत्थं च ।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र ९१ :
देखिए—पृ० २६ पा०टि०५ ।

३—वही, पत्र ११६ :
अभ्याहृतानि बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम् ।

४—वही, पत्र ११९
ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थम् ।

५—वही, पत्र १९८ :
'मन्ये' मन्यन्ते प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थकरगणधराः ।

६—(क) अगस्त्य चूर्णि : इसिणा—साधुणा ।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२७ : इसिणा णाम साधुणा ।

७—हारिभद्रीय टीका, पत्र २०३ :
ऋषीणां—साधूनाम् ।

४–समास

पंचासवपरिन्नाया (३।११)

संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—'पञ्चाश्रवपरिज्ञाता' और 'परिज्ञातपञ्चाश्रवा'। टीकाकार का अभिमत है कि 'आहिताग्न्यादे' यह आकृति गण है और इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्व निपात नहीं होता। अत प्रथम रूप निष्पन्न होता है। दूसरा रूप सर्वसम्मत ही है।[1]

परीसहरिऊदंता (३।१३)

प्राकृत में पूर्वापरपद-नियम की व्यवस्था नही है। संस्कृत में इसके दो रूप बनते है—'परीषहरिपुदान्ता' और 'दान्तपरीषहरिपव'। 'आहिताग्न्यादे'—इसमें निष्ठा-प्रत्यय का पूर्वनिपात नही होता। अत प्रथम रूप निष्पन्न होता है और पूर्व-निपात करने पर दूसरा रूप।[2]

५–प्रत्यय

कीयगडं (३।२)

यहाँ 'कीय' शब्द में भाव में निष्ठा प्रत्यय है।[3]

अयंपिरो (५।१।२३)

शीलाद्यर्थस्येर[4]—इस सूत्र से 'इर' प्रत्यय हुआ है। संस्कृत में इसके स्थान पर 'तृन्' प्रत्यय होता है। हरिभद्र सूरि ने इसका संस्कृत रूप 'अजल्पन्' दिया है।

आहारमइयं (८।२८)

यहाँ 'मइय' मयट् प्रत्यय के स्थान में है।[5]

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र ११८,

पञ्चाश्रवाः परिज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाता., आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्न निष्ठाया. पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव, परिज्ञातपञ्चाश्रवा इति वा।

२–वही, पत्र ११९ ·

परीषहा एव रिपव, दान्ता· यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः, समासः पूर्ववत् न प्राकृते पूर्वापरपदनियमव्यवस्था।

३–वही, पत्र ९६.

क्रीतकृतं-क्रयणं—क्रीतं, भावे निष्ठा प्रत्ययः।

४–हेमशब्दानुशासन. ८।२।१४५।

५–पाइयसद्दमहण्णव, पृष्ठ ८१८।

६–लिङ्ग

पंचनिग्गहणा धीरा (३।११)

'निग्गहणा' इसमें ल्युट् (अनट्) प्रत्यय कर्त्ता में हुआ है, अत यह पुल्लिङ्ग है।[1]

लिङ्ग-व्यत्यय—

जेण (८।४७)

यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'यया' के स्थान पर पुल्लिङ्ग 'येन' है।

मयाणि सव्वाणि (१०।१६)

यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुसंक लिङ्ग है।

७–क्रिया और अर्द्धक्रिया

लब्भामो…उवहम्मई (१।४)

यहाँ पहली क्रिया का प्रयोग भविष्यत् काल और दूसरी का वर्तमान काल में किया गया है। उससे उस त्रैकालिक नियम की सूचना दी गई है कि मुनि को सर्वदा यथाकृत भोजन लेना चाहिए।[2]

अइवाएज्जा (४ सू०११)

प्राकृत शैली के आधार पर टीकाकार ने यहाँ पुरुष का व्यत्यय माना है—प्रथम-पुरुष के स्थान में उत्तमपुरुष माना है।[3]

भुंजमाणाणं (५।१।३८)

भुज् धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओ के परस्मै और आत्मने पद की व्यवस्था नही है, इसलिए संस्कृत में 'भुजमाणाण' शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते है—(१) 'भुजतो' और (२) 'भुजानयो:'।

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र ११९
कर्तरि ल्युट्।

२–वही, पत्र ७२.
वर्तमानैष्यत्कालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थ।

३–वही, पत्र १४५
प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् 'तिङां तिङो भवन्ती'ति न्यायात नैव स्वयं प्राणिन: अतिपातयामि।

सिया (६।१८)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सिया' को क्रिया माना है ।[१] जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है ।[२]

धारंति परिहरंति (६।१९)

ये दोनो सामयिक (आगम-प्रसिद्ध) धातुएँ है ।

परिग्गहे (६।२१)

चूर्णिकार ने 'परिग्गहे' को क्रिया माना है ।[३] टीकाकार ने इसे सप्तमी विभक्ति का रूप माना है ।[४]

छन्नंति (६।५१)

चूर्णिद्वय के अनुसार वह धातु 'क्षणु हिंसायाम्' है ।[५] टीकाकार ने 'छिप्पति' पाठ मान कर उसके लिए संस्कृत धातु 'क्षिपंनज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है ।[६]

गच्छामो (७।६)

यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'—इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है ।[७]

१—अगस्त्य चूर्णि :
सियादिति भवेत् भवेज्ज ।

२—(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२० :
सिया कदापि ।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र १९८ :
य स्यात्—य· कदाचित ।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२२ :
'संरक्खण परिग्गहो' नाम संजमरक्खणणिमित्त परिगिण्हंति ।

४—हारिभद्रीय टीका, पत्र १९९ ।

५—(क) अगस्त्य चूर्णि
छन्नंति क्षणु हिसायामिति हिंसिज्जति ।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२८ .
छण्णसद्दो हिंसाए वट्टइ ।

६—हारिभद्रीय टीका, पत्र २०४ '
क्षिप्यन्ते—हिंस्यन्ते ।

७—भिक्षुशब्दानुशासन, ४।४।७६ ।

लद्धुं (८।१)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया[1] (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह 'तुम्' प्रत्यय का रूप है ।[2]

अहिट्ठए (८।६१)

टीका में 'अहिट्ठए' का संस्कृत रूप 'अधिष्ठाता' है । किन्तु 'तव' आदि कर्म है, इसलिए यह 'अहिट्ठा' धातु का रूप होना चाहिए ।

८—क्रिया-विशेषण

जय (५।१।६)

यह 'परक्कमे' क्रिया का विशेषण है ।[3]

निउणं (६।८)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' क्रिया का विशेषण है ।[4] जिनदास चूर्णि[5] और टीका[6] के अनुसार 'निउणा' मूल पाठ है और वह 'अहिंसा' का विशेषण है ।

९ आर्ष-प्रयोग

वत्थगंधमलंकारं (२।२)

यहाँ गंध का अनुस्वार अलाक्षणिक है ।[7]

१—(क) अगस्त्य चूर्णि ·
लद्धुं पाविऊण ।
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २२७ ·
लब्ध्वा प्राप्य ।

२ -जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २७१
(लद्धुं) प्राप्तये ।

३ -हारिभद्रीय टीका, पत्र १६४
यतमिति क्रियाविशेषणम् ।

४ अगस्त्य चूर्णि
निपुणं सव्वपाकारं सव्वसत्तगता इति ।

५—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २१७
अहिंसा जिणसासणे निउणा ।

६—हारिभद्रीय टीका, पत्र १९६
निपुणा आधाकर्माद्यपरिभोगत कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा ।

७-वही, पत्र ९१
अनुस्वारोऽलाक्षणिक. ।

परिव्वयंतो (२।४)

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'परिव्वयंतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है।[1] वैकल्पिक रूप में इसे मन के साथ जोड़ा है।[2] जिनदास महत्तर 'परिव्वयतो' को प्रथमा का एकवचन मानते हैं और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तस्स' का अध्याहार करते हैं।[3]

कट्टुअं (४।१-६)

यहाँ अनुस्वार अलाक्षणिक है।[4]

लाभमट्ठिओ (५।१।६४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

विउलं (५।२।४३)

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एसमाघाओ (६।३४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

आहारमाईणि (६।४६)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

एयमट्ठं (६।५२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

मंचमासालएसु (६।५३)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

वुद्धवुत्तमहिट्ठगा (६।५४)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

१–अगस्त्य चूर्णि :
वृत्तभंगभयात अलक्खणो अनुस्सारो।

२–वही
अहवा तदेव मणोऽभिसंबज्झति।

३. जिनदास चूर्णि, पृ० ८४ .
परिव्वयंतो नाम गामणगरादीणे उवदेसेणं विचरन्तो'त्ति वुत्त भवइ तस्स।

४-हारिभद्रीय टीका, पत्र १४०, १५६
'कट्टुअं' अनुस्वारोऽलाक्षणिकः।

असिणाणमहिट्ठगा (६।६२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

समत्तमाउहे (८।६१)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

वयणंकरा (६।२।१२)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

उवहिणामवि (६।२।१८)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

निक्खम्म-माणाए (१०।१)

यहाँ मकार अलाक्षणिक है ।

१०—विशेष-विमर्श

घिरत्थु ते जसोकामी (२।७)

चूर्णिकार और टीकाकार ने 'जसोकामी' की 'यश कामिन्' और अकार लोप मान कर 'अयश कामिन्'—इन दो रूपो में व्याख्या की है ।[1]

छत्तस्स य धारणट्ठाए (३।४)

टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—विना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है ।[2] आगाढ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नही है । प्रश्न हो सकता है कि टीकाकार अनर्थ छत्र-धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए ? इसका स्पष्टीकरण स्वय टीकाकार ने ही कर दिया है । उनके मत से सूत्र-पाठ अर्थ की दृष्टि से 'छत्तस्स य धारणमणट्ठाए' है । किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत-शैली के अनुसार, अकार और नकार का लोप करने से, 'छत्तस्स य धारणट्ठाए' ऐसा पद शेष रहा है । साथ ही वह कहते है—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जा

१–(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ८८ ।
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र ९६ ।

२–हारिभद्रीय टीका, पत्र ११७

छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढ-ग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वाऽनाचरितम् ।

रहा है। अत श्रुत-प्रमाण भी इसके पक्ष मे है। इस तरह टीकाकार ने 'अट्ठाए' के स्थान में 'अणट्ठाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है।[1]

पाणहा (३।४)

यह प्राकृत शब्द 'उवाहणा' का सक्षिप्त रूप है।

धूवणेत्ति (३।६)

इस शब्द की व्याख्या 'धूपनमिति' और 'धूमनेत्र' इन दो रूपो में की गई है।[2] धूमनेत्र का अर्थ है—धुआँ पीने की नली।

जे य कीडपयंगा, जा य कुथुपिवीलिया (४।सू०६)

यहाँ उद्देश का व्यत्यय है। कीट द्वीन्द्रिय, पतंग चतुरिन्द्रिय और कुथु तथा पिपीलिका त्रीन्द्रिय है। इनका क्रमश उल्लेख होना चाहिए था, परन्तु सूत्र की गति विचित्र होती हे और उसका क्रम अतंत्र होता है—तंत्र मे नियत्रित नही होता, इसलिए यहाँ ऐसा हुआ है, यह टीकाकार का अभिमत है।[3]

किन्तु हमारे अभिमत में इस व्यत्यय का कारण छन्दोबद्धता है। सम्भवत ये दोनों किसी गाथा के चरण है, जो ज्यो के त्यों उद्धृत किए गए हैं।

से सुहुमं (४।सू०११)

'से' शब्द मगध देश मे प्रसिद्ध 'अथ' शब्द का वाचक है।[4]

ओग्गहंसि अजाइया (५।१।१८)

यह पाठ दो स्थानों पर है—यहाँ और ६।१३ में। पहले पाठ की टीका—

१-हारिभद्रीय टीका, पत्र ११७
प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथा श्रुति-प्रामाण्यादिति।

२-वही, पत्र ११८ :
प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

३-वही, पत्र १४२ :
ये च कीटपतङ्गा इत्यादावुद्देशव्यत्यय किमर्थम्? उच्यते 'विचित्रा सूत्र-गतिरतंत्र क्रम' इति ज्ञापनार्थम्।

४-वही, पत्र १४५ :
से शब्दो मागधदेशप्रसिद्ध: अथ शब्दार्थ:।

'अवग्रहमयाचित्वा' और दूसरे पाठ की टीका—'अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा' है ।[१] 'ओग्गहंसि' को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और यदि 'ओग्गहंसि' ऐसा पाठ मान कर 'ओग्गहं' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहं तस्य' होगा ।

अज्झोयर (५।१।५५)

टीकाकार 'अज्झोयर' का संस्कृत-रूप 'अध्यवपूरक' करते हैं । यह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नही, इसलिए हमने इसका संस्कृत-रूप 'अध्यवतर' किया है ।

सन्निहीकामे (६।१८)

चूर्णिकारों ने 'सन्निधिकाम' यह एक शब्द माना है ।[२] टीकाकार ने 'कामे' को क्रिया माना है । उनके अनुसार 'सन्निहिं कामे' ऐसा पाठ बनता है ।[३]

अहिज्जगं (८।४९)

इसका संस्कृत-रूप 'अधीयानम्' किया गया है ।[४] चूर्णि और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण दृष्टिवाद को पढ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों से अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्खलना नही होती और जो वाणी के सब प्रयोगो को जानता है, उसके लिए कोई शब्द अशब्द नही होता । वह अशब्द को भी सिद्ध कर देता है । स्खलना प्राय वही करता है, जो दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण

१—हारिभद्रीय टीका :
(क) पत्र, १६७ ।
(ख) पत्र, १९७ ।

२—(क) अगस्त्य चूर्णि .
सण्णिघी भणितो, तं कामयतीति—सण्णिधीकामो ।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २२० :
सण्णिहिं कामयतीति सन्निहिकामी ।

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र १९८
अन्यतरामपि स्तोकामपि 'य स्यात्' य कदाचित्संनिधि 'कामयते' सेवते ।

४—(क) अगस्त्य चूर्णि
दिट्ठिवादमधिज्जगं—दिट्ठिवादमज्झयणपरं ।
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २३६ :
दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम् ।

नही कर पाता ।[1] दृष्टिवाद को पढने वाला बोलने में चूक सकता है, लेकिन जो उसे पढ चुका, वह नही चूकता—इस आशय को ध्यान में रख कर चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे 'अधीयान' के अर्थ में स्वीकृत किया है । किन्तु इसका संस्कृत-रूप 'अभिज्ञक' होता है । 'अधीयान' के प्राकृत रूप—'अहिज्जंत' और 'अहिज्जमाण' होते हैं ।[2]

तमेव (८।६०)

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का । आचाराग वृत्ति मे इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है ।[3]

चंदिमा (८।६३)

इसका अर्थ व्याख्याओ में चन्द्रमा है ।[4] किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्द्रिका होता है ।[5]

मय (६।१।१)

मूल शब्द 'माया' है । छन्द-रचना की दृष्टि मे 'मा' को 'म' और 'या' को 'य' किया गया है ।[6]

१—(क) अगस्त्य चूर्णि : अधीतसव्ववातोगतविसारदस्स नत्थि खलितं ।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २८९ :
अधिज्जियगहणेण अधिज्जमाणस्स वयणखलणा पायसो भवइ, अधिज्जिए पुण निरवसेसे दिट्ठिवाए सव्वपयोयजाणगत्तणेण अप्पमत्तणेण य वति-विक्खलियमेव नत्थि, सव्ववयोगतवियाणया असद्दमवि सद्दं कुज्जा ।

२—पाइयसद्दमहण्णव, पृष्ठ १२१ ।

३—(क) अगस्त्य चूर्णि : तं सद्धं पवज्जासमकालिणिं अणुपालेज्जा ।
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २३८ :
तामेव श्रद्धामप्रतिपत्तितया प्रवर्द्धमानामनुपालयेत ।

४—अगस्त्य चूर्णि : चन्दिमा चन्द्रमाः ।

५-हेमशब्दानुशासन, ८।१।१८५ . चन्द्रिकायां म' ।

६—(क) अगस्त्य चूर्णि : मय इति मायातो इति एत्थ आयारस्स ह्रस्सता । महस्सता य लक्खणविज्जाए अत्थि जधा—ह्रस्वो णपुंसके प्रातिपदिकस्य पराते विसेसेण जधा एत्थ 'व' 'वा' सद्दत्थ ।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३०१ :
मयगहणेण मायागहणं मयकारहस्सत्तं बंधाणुलोमत्थं ।
(ग) हारिभद्रीय टीका, पत्र २४२ :
मायातो—निकृतिरूपायाः ।

सिग्घं (६।२।८)

प्राकृत में श्लाघ्य के 'सग्घं' और 'सिग्घ' दोनो रूप बनते है । यह श्रुत का विशेषण है । अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सग्घ' का प्रयोग किया है ।[1]

सूत्रकृताग (३।२।१६) में भी 'सग्घ' रूप मिलता है—'भुज भोगे इमे सग्घे' ।

सुयत्थधम्मा (६।२।२३)

इसकी दो व्युत्पत्तियाँ—'जिसने अर्थ-धर्म सुना है' अथवा 'धर्म का अर्थ सुना है जिसने'—मिलती है ।[2]

मुंचऽसाहू (६।३।११)

यहाँ 'असाहू' शब्द के अकार का लोप किया गया है । अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर कितंत (कृत्तान्त—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररूप' ही रखा है ।[3] जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाघव के लिए अकार का लोप किया है—ऐसा माना है ।[4] टीकाकार ने प्राकृतशैली के अनुसार 'अकार' का लोप माना है ।[5] यहाँ 'गुण' शब्द का अध्याहार होता है—'मुचसाधुगुणा' अर्थात् असाधु के गुणो को छोड ।[6]

वियाणिया (६।३।११)

टीकाकार ने 'वियाणिया' का सस्कृत-रूप 'विज्ञापयति' किया है किन्तु इसका सस्कृत-रूप जो 'विज्ञाय' होता है, वह अर्थ की दृष्टि से सर्वथा संगत है ।

१–(क) अगस्त्य चूर्णि .

सुत्तं च सग्घं साघणीयमविगच्छति ।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २४७

श्रुतम् अंगप्रविष्टादि श्लाघ्यं प्रशंसास्पदभूतम् ।

२–जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३१७ :

सुयोत्थधम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा गीयत्थित्ति वुत्तं भवइ, अहवा सुओ अत्थो धम्मस्स जेहिं ते सुतत्थधम्मा ।

३–अगस्त्य चूर्णि

एत्थ ण समाणदीर्घता किन्तु पररूव कतंत वदिति ।

४–जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३२२

गंथलाघवत्थमकारलोवं काऊण एवं पढिज्जइ जहा मुंच साधुत्ति ।

५–हारिभद्रीय टीका, पत्र २५४ ।

६–अगस्त्य चूर्णि ·

मुंचासाधु गुणा इति वयण सेसो ।

११—क्रम-भेद

जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना (७।२)

श्लोक के इस चरण में असत्याऽमृषा का प्रतिपादन है। वह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवत्तव्वा' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्य-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद, क्रम-भेद हो सकता है, इसलिए यहाँ क्रम-भेद किया गया है।[1]

तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं (६।२।२३)

यह पद 'खवित्तु कम्मं' के पश्चात् होना चाहिए था। किन्तु यहाँ पश्चाद्दीपक सूत्र रचना-शैली से उसका पहले उपन्यास किया गया है, इसलिए यह निर्दोष है।[2]

१—(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २४४ :

चउत्थीवि जा अ बुद्धेहि णाइन्नागहणेणं असच्चामोसावि गहिता, उक्कमकरणे मोसावि गहिता एवं वन्धानुलोमत्यं, इतरहा सच्चाए, उवरिं'मा भाणियव्वा, गयाणुलोमताए विभत्तिभेदो होज्जा वयणभेदो वसु(थी) पुमलिंगभेदो व होज्जा अत्यं अमुचंतो।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २१३

या च 'बुद्धै' तीर्थंकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमंत्रण्याज्ञापन्या-दिलक्षणा :

२—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३१७ :

'पुव्वि खवित्तु कम्ममिति' वत्तव्वे कहं तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरंति पुव्वभणियं ? आयरिओ आह—पच्छादीवगो णाम एस सुत्तबंधोत्तिकाऊण न दोसो भवइ।

५–भाषा की दृष्टि से

इसमें अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्री आदि के संवलित प्रयोग है। 'हत्यसि वा', 'पायसि वा' (४।सू० २३) में अर्धमागधी के प्रयोग हैं। प्राकृत में सप्तमी के एकवचन के दो रूप बनते है—हत्थे, हत्यम्मि।[१] 'हत्यसि' यह अर्धमागधी में बनता है। 'जे' (२।३), 'करेमि' (४।सू०१०)—इनमें 'ओकार' के स्थान में जो 'एकार' है वह अर्धमागधी का लक्षण है।[२]

मणसा (८।३), जोगसा (८।१७) —ये अर्धमागधी के प्रयोग है। प्राकृत में ये नही मिलते।

बहवे (७।४८), 'बहु' शब्द का प्रथमा का बहुवचन, जसोकामी (२।७), दोच्चे (४।सू० १२), तच्चे (४।सू० १३), सोच्चा (४।११), लद्धूण (५।२।४७), ऊसढ (५।२।२५), संवुड (५।१।८३), परिवुड (६।१।१५), कड (४।२०), कट्टु (चू०१।१४) आदि-आदि तथा मकार के अलाक्षणिक प्रयोग, जिनका यथास्थान निर्देश किया गया है, ये सब अर्धमागधी के प्रयोग हैं, जिन्हें हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आर्ष-प्रयोग कहा है। हियट्ठयाए (४।सू०१७)—यहाँ स्वार्थ मे 'या' और 'य' के स्थान में 'एकार' का प्रयोग है, जो प्राकृत-सिद्ध नही है। 'तेइंदिया' मे 'ति' का 'ते' हुआ है। यह अर्धमागधी का प्रयोग है।[3] कही शौरसेनी के लक्षण भी मिलते हैं, जैसे—अत्तवं (आत्मवान्) (८।४८) यहाँ 'न' को 'म' किया है, जो शौरसेनी में होता है।[४]

देशी या अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग भी प्रचुर हैं। गावी (५।१।१२) को पतञ्जलि 'गो' शब्द का अपभ्रंश बतलाते हैं।[५] आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत-भाषा-विशेष के शब्दो को 'देशी' माना है।[६]

१–हेमशब्दानुशासन, ८।३।११

डे म्मि ङे।

२–वही, ८।४।२८७ :

अत एत्सौ पुंसि मागध्याम्।

३–प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पैरा ४३८, पृष्ठ ६५१।

४–हेमशब्दानुशासन, ८।४।२६४

मो वा।

५–पातञ्जल महाभाष्य, पस्पशाह्निक :

एकस्यैव गोशब्दस्य गावी-गोणी-गोता-गोपोतलिकेत्यादयोऽनेकेऽपशब्दाः।

६–देशीनाममाला, १।४ :

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।

तम्हा अणाइपाइयपयट्टभासाविसेसओ देसी॥

६—शरीर-परामर्श

दशवैकालिक के दश अध्ययन है। उनमे पाँचवें के दो और नवें के चार उद्देशक हैं, शेष अध्ययनो के उद्देशक नही है।

चौथा और नवाँ अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है, शेष सब पद्यात्मक हैं। उनका विवरण इस प्रकार है

अध्ययन	श्लोक	सूत्र
१—द्रुमपुष्पिका	५	
२—श्रामण्य-पूर्वक	११	
३—क्षुल्लकाचार	१५	
४—धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्-जीवनिका	२८	२३
५—पिण्डैषणा	१५०	
६—महाचार	६८	
७—वाक्यशुद्धि	५७	
८—आचार-प्रणिधि	६३	
९—विनय-समाधि	६२	७
१०—सभिक्षु	२१	
चूलिका		
१—रतिवाक्या	१८	१
२—विविक्तचर्या	१६	

चूर्णिकार और टीकाकार पद्य-संख्या के बारे में एक मत नही हैं। निर्युक्तिकार ने जैसे अध्ययनो के नाम, उनके विषय और अधिकारो का निरूपण किया है, वैसे ही इनकी श्लोक-संख्या का परिमाण बताया होता तो चूर्णिकार और टीकाकार की दिशाएँ इतनी भिन्न नही होती। टीकाकार के अनुसार दशवैकालिक के पद्यो की संख्या ५०९ और चूलिकाओ की ३४ है। जबकि चूर्णिकार के अनुसार क्रमश ५३६ और ३३ होती है। बहुत अन्तर पाँचवें और सातवें अध्ययन में है। पाँचवें अध्ययन के पहले उद्देशक की पद्य-संख्या १३०, दूसरे की ४८, सातवें अध्ययन की ५६ और पहली चूलिका की १७ है।

शास्त्रो के नाम निर्देश्य और निर्देशक दोनो के अनुसार होते है।[1] दशवैकालिक के अध्ययनो के नाम प्राय निर्देश्य के अनुसार है। इसलिए अध्ययन के नाम से ही विषय

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति पत्र १४९ :

निर्देश्यवशान्निर्देशकवशाच्च द्विप्रकारमपि नैगमनयो निर्देशमिच्छति। ····
लोकोत्तरेऽपि निर्देश्यवशाद्, यथा—षड्जीवनिका तत्र हि षड्-जीवनिकाया निर्देश्याः।

का वोध हो जाता है। निर्युक्ति के अनुसार पहले अध्ययन (द्रुमपुष्पिका) का विषय (अर्थाधिकार) धर्म-प्रशंसा है। धर्म का पालन धृति के द्वारा ही किया जा सकता है, यह दूसरे अध्ययन (श्रामण्य-पूर्वक) का विषय है। तीसरे अध्ययन (क्षुल्लकाचार) में आचार का संक्षिप्त वर्णन है। चौथे अध्ययन (धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्-जीवनिका) में आत्म-संयम के उपाय और जीव-संयम का निरूपण है। पाँचवें अध्ययन (पिण्डैषणा) में भिक्षा की विशुद्धि, छठे (महाचार कथा) में विस्तृत आचार, सातवें (वाक्य-शुद्धि) में वचन-विभक्ति, आठवें (आचार-प्रणिधि) में प्रणिधान, नवें (विनय-समाधि) में विनय और दसवें (सभिक्षु) में भिक्षु के स्वरूप का वर्णन है। जिसका चिन्तन संयम से डिगते हुए भिक्षु का आलम्बन वन सके, यह पहली चूलिका (रतिवाक्या) का विषय है। संयम में रत रहने से होने वाली गुण-वृद्धि और धर्म के प्रयास का फल दूसरी चूलिका (विविक्तचर्या) में वतलाया है।[1]

व्याख्याकारो के अभिमत में अध्ययनो का क्रम विषय-क्रम के अनुसार हुआ है। नव-दीक्षित भिक्षु को धर्म में सम्मोह न हो, इसलिए उसे धर्म का महत्त्व वतलाना चाहिए—यह इस आगम का ध्रुव-बिन्दु है। धर्म का आचरण धृति-पूर्वक ही किया जा सकता है, धृति आचार में होनी चाहिए, आचार का स्वरूप[2] षट्काय के जीवो की दया और पाँच महाव्रत है—यह क्रमश दूसरे, तीसरे और चौथे अध्ययन के क्रम का हेतु है। धर्माचरण का साधन शरीर है। वह खान-पान के बिना नही टिकता। आचार की आराधना करने वाला हिंसक पद्धति से न खाए, इसलिए धर्म-प्रज्ञप्ति के वाद पिण्डैषणा का

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २०-२४

पढमे धम्मपसंसा सो य इहेव जिणसासणम्मित्ति।
बिइए धिइए सक्का काउं जे एस धम्मोत्ति॥
तइए आयारकहा उ खुड्डिया आयसंजमोवाओ।
तह जीवसंजमोऽवि य होइ चउत्थंमि अज्झयणे॥
भिक्खविसोही तवसंजमस्स गुणकारिया उ पंचमए।
छट्ठे आयारकहा महई जोग्गा महयणस्स॥
वयणविभत्ती पुण-सत्तमम्मि पणिहाणमट्ठमे भणियं।
णवमे विणओ दसमे समाणियं एस भिक्खुत्ति॥
दो अज्झयणा चूलिय विसीययंते थिरीकरणमेगं।
बिइए विवित्तचरिया असीयणगुणाइरेगफला॥

२—अगस्त्य चूर्णि

आयारो छकायदया पंचमहव्वयाणि।

क्रम प्राप्त होता है। पाँच महाव्रत मूल गुण हैं। उनकी सुरक्षा के लिए उनके बाद उत्तर गुण बतलाए गए है।[1] पिण्डैषणा के लिए जाने पर आचार के बारे में पूछा जा सकता है। आचार-निरूपण के लिए वचन-विभक्ति का ज्ञान आवश्यक है। वचन का विवेक आचार में प्रणिहित (समाधियुक्त) भिक्षु के ही हो सकता है। आचार मे जो प्रणिहित होता है, वह विनययुक्त ही होता है—यह छठे से नवें तक का क्रम है। पूर्ववर्ती अध्ययनो में वर्णित गुणो से सम्पन्न व्यक्ति ही भिक्षु होता है, इसलिए सबके अन्त मे 'सभिक्षु' अध्ययन है।[5] कर्मवश संयम मे अस्थिर बने भिक्षु का पुन स्थिरीकरण और उसका फल ये दो चूलिकाओ का क्रम है। इस प्रकार यह आगम 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' (धम्मो मंगलमुक्किट्ठं—१।१) इस वाक्य से शुरू होता है और 'धर्म से सुरक्षित आत्मा सब दु खों से मुक्त हो जाता है' (सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ—चूलिका २।१६) इस वाक्य में पूर्ण होता है।

१—अगस्त्य चूर्णि

तदणु धम्मे धितिमतो आयारट्ठियस्स छक्कायदयापरस्स णासरीरो धम्मो भवति, पहाणं च सरीरधारणं पिंडोत्ति पिंडेसणावसरो। अहवा छज्जीवणियाए पंचमहव्वया भणिता ते मूलगुणा, उत्तरगुणा पिंडेसणा, कहं? "पिंडस्स जा विसोधी०" (व्य० भा० उ० गा०२८९) अतो छज्जीवणिकायाणंतरं पिंडेसणा पाणातिवातरक्खणं ताव "उदओल्लेण हत्येण दव्वीए भायणे" (अ०५, उ०१, गा०३३) एवमादि, मुसावदे "तवतेण वतितेण" (अ०५, उ०२, गा०४४) अदिण्ण दाणे "कवाडं णो पणोल्लेज्जा, ओग्गहंसे अजातिया" (अ०५, उ०१, गा०१८) मेहुणे "ण चरेज्ज वेससामंते" (अ०५ उ०१, गा०९) पंचमे "अमुच्छितो भोयणम्मी" (अ०५, उ०२, गा० २५) मुच्छा परिग्गहो सो निवारिज्जति।

२—वही :

सभिक्खुयं न केवल मणंतरेण णवहिं वि अज्झयणेहि अभिसंवज्झति, कहं? जो धम्मे धितिसंपण्णे आयारत्थो छक्कायदयावरो एसणानुद्धभोगी आयारकहणसमत्थो विचारियविमुद्धवक्को आयारेपणिहितो विणयसमाहियप्पा सभिक्खुत्ति सभिक्खुय।

दिगम्बर-परम्परा के साहित्य में दशवैकालिक का विषय 'साधु के आचार-गोचर की विधि का वर्णन' बतलाया है।[1]

१-(क) जयधवला, पृष्ठ १२० :
साहूणमायारगोयरविहिं दसवेयालियं वण्णेदि।
(ख) धवला, सत्प्ररूपणा (१।१।१), पृष्ठ ९७ :
दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ।
(ग) अंगपण्णत्ति चूलिका, गाथा २४ :
जदि गोचरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेदि।
दसवेयालिय सुत्तं दहकाला जत्थ संवुत्ता॥

७—छन्द-विमर्श

कुछ आधुनिक विद्वानो ने दशवैकालिक का पाठ-संशोधन किया, उसके साथ-साथ छन्द की दृष्टि से भी पाठ-संशोधन कर डाला। अनुष्टुप् श्लोक के चरणो में सात या नौ अक्षर थे, वहाँ पूरे आठ कर दिए। डा० ल्यूमेन ने ऐसा प्रयत्न बडी सावधानी से किया है, पर मौलिकता की दृष्टि से यह न्याय नही हुआ। छन्दो के प्रति आज का दृष्टिकोण जितना सीमित है, उतना पहले नहीं था।

वैदिक-काल में छन्दो के एक-दो अक्षर कम या अधिक भी होते थे। किसी छन्द के चरण में एक अक्षर कम होता तो उसके पहले 'निचृत्' और यदि एक अक्षर अधिक होता तो उसके साथ 'भूरिक्' विशेषण लगा दिया जाता।[1] किसी छन्द के चरण में दो अक्षर कम होते तो उसके साथ 'विराज' और दो अक्षर अधिक होते तो 'स्वराज्य' विशेषण जोड दिया जाता।[2]

आगम-काल में भी छन्दो के चरणों में अक्षर न्यूनाधिक होते थे। प्रस्तुत आगम में भी ऐसा हुआ है। अगस्त्यसिंह मूलपाठ के पूर्व श्लोक, वृत्त, मुत्त, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रोपजाति, इन्द्रोपवज्रा, वैतालिक और गाथा का उल्लेख करते है।

अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण मे आठ-आठ अक्षर होते है किन्तु इसके अनुष्टुप् श्लोको के चरण सात, आठ, नौ और दस अक्षर वाले भी है।

अगस्त्यसिंह मुनि के अनुसार इसमे द्वयर्ध-श्लोक भी है। उन्होने इसके समर्थन में लौकिक मत का उल्लेख किया है।[3]

धम्म-पद का प्रारम्भ द्वयर्ध-श्लोक से ही होता है। वैदिक-काल में भावों पर छन्दों का प्रतिबन्ध नहीं था। भावानुकूल २, ३, ४, ५, ६, ७ और ८ चरणों के छन्दो का भी निर्माण हुआ है।[4]

१—ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल ७

एतन्न्यूनाधिका सैव निचृदूनाधिका भूरिक्।

२—शौनक, ऋक् प्रातिशाख्य, पाताल १७।२ :

विराजैस्तूत्तरस्याहुर्द्वाभ्यां या विपये स्थिता.।
स्वराज्य एवं पूर्वस्य या काश्चैवं गता ऋच.॥

३—देखो—दशवैकालिक (भा० २) ५।२।१५ का टिप्पण, पृष्ठ ३०२।

४—आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृष्ठ ७५।

इस सूत्र के दस अध्ययन तथा दोनो चूलिकाओ के सम्मिलित श्लोक ५१४ है। प्रत्येक श्लोक के चार-चार चरण है। चरणो की कुल संख्या २०५६ है। इनमें अधिकाश चरण (लगभग ८० प्रतिशत) अनुष्टुप् छन्द के है और शेष अन्यान्य छन्दो के।

अनुष्टुप् छन्दों के निबद्ध चरणो में भी एकरूपता नही है। कही अक्षरो की अधिकता है और कही न्यूनता।

कई चरणों में एक अक्षर अधिक है, जैसे—१।२।२, १।४।२, ४।२६।१। कई चरणो में दो अक्षर अधिक हैं, जैसे—६।२७।३, ८।५।१, ८।१४।१। कई चरणो में तीन अक्षर कम है, जैसे—८।२।१ आदि-आदि। कई चरणों में एक अक्षर कम है, जैसे—३।४।१, ८।३१।१। कई चरणो में दो अक्षर कम हैं, जैसे—५।१।१२।१। अनुष्टुप् छन्द के अतिरिक्त इस सूत्र में जाति, त्रिष्टुप्, जगती, वैतालिक, मधुमति, कामदा आदि छन्दो का प्रयोग भी हुआ है।[1]

१—विशेष विवरण के लिए देखो :

The Daśavaikālika Sūtra A Study, pp 20-27 and pp 101-106

८—उपमा और दृष्टान्त

जैन-आगम उपमाओ और दृष्टान्तों से भरे पडे है। व्याख्या-ग्रन्थों में भी ये व्यवहृत हुए है। देश, काल, क्षेत्र, सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप अनेक उपमाएँ और दृष्टान्त प्रचलित होते हैं। इनके व्यवहार से कथा-वस्तु में प्राण आ जाते है और वह सहजतया हृदयंगम हो जाती है।

इस सूत्र मे अनेक उपमाएँ और दृष्टान्त है। वे अनेक तथ्यो पर प्रकाश डालते है। उनका समग्र सकलन इस प्रकार है :

१—विहंगमा व पुप्फेसु	१।३
२—पुप्फेसु भमरा जहा	१।४
३—महुकारसमा	१।५
४—मा कुले गंधणा होमो	२।८
५—वायाइद्धो व्व हडो	२।९
६—अंकुसेण जहा नागो	२।१०
७—महु-घयं व	५।१।९७
८—निच्छुब्भिग्गो जहा तेणो	५।२।३९
९—उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा	६।६८
१०—कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो	८।४०
११—भक्खरं पिव	८।५४
१२—विसं तालउडं जहा	८।५६
१३—सूरे व सेणाए समत्तमाउहे	८।६१
१४—रुप्पमल व जोइणा	८।६२
१५—कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा	८।६३
१६—फलं व कीयस्स वहाय होइ	९।१।१
१७—सिहिरिव भास कुज्जा	९।१।३
१८—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा। जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी एसोवमासायणया गुरूणं॥	९।१।६
१९—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा। जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं एसोवमासायणया गुरूणं॥	९।१।८

२०—कट्ठं सोयगयं जहा ६।२।३
२१—जलसित्ता इव पायवा ६।२।१२
२२—अग्गिमिवाहियग्गी ६।३।१
२३—जत्तेण कन्नं व निवेसयति ६।३।१३
२४—हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडागाभूयाइ चू०१।सू०१
२५—इदो वा पडिओ छमं चू० १।२
२६—देवया व चुया ठाणा चू० १।३
२७—राया व रज्जपब्भट्ठो चू० १।४
२८—सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो चू० १।५
२९—मच्छो व्व गले गिलित्ता चू० १।६
३०—हत्थी व बधणे बद्धो चू० १।७
३१—पंकोसन्नो जहा नागो चू० १।८
३२—दाढुद्धिय घोरविस व नागं चू० १।१२
३३—उवेंतवाया व सुदसणं गिरिं चू० १।१७
३४—आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीण चू० २।१४

३५—जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पय ॥
एमेए समणा मुत्ता १।२,३

३६—जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भय ।
एव खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भय ॥ ८।५३

३७—जे यावि नाग डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ ।
एवायरियं पि हु हीलयतो नियच्छई जाइपहं खु मदे ॥ ६।१।४

३८—जहाहियग्गी जलणं नमंसे नाणाहुईमतपयाभिसित्तं ।
एवायरिय उवचिट्ठएज्जा अणंतनाणोवगओ वि सतो ॥ ६।१।११

३९—जहा निसते तवणच्चिमाली पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इदो ॥ ६।१।१४

४०—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो नक्खत्ततारागणप रिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥ ६।१।१५

४१—मूलाओ खंघप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥
एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो । ९।२।१,२

४२—दुग्गओ वा पओएणं चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ ९।२।१९

६—परिभाषाएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत मूल आगम में प्रतिपादित परिभाषाओं को एकत्रित किया गया है। कई परिभापाएँ स्पष्ट हैं और कई अस्पष्ट। वे अस्पष्ट परिभाषाएँ भी विषय की भावना को वहन करती हैं, अत इन्हें छोडा नहीं जा सकता। दशवैकालिक में आई हुई परिभाषाएँ ये है

(१) अत्यागी—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २।२

(२) त्यागी—

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २।३

(३) त्रस—

जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कतं पडिक्कंतं संकुचियं
पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया। ४।सू०९

(४) समुदान—

समुयाणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म ऊसढं नाभिधारए ॥ ५।२।२५

(५) अहिंसा—

अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ॥ ६।८

(६) गृही—

जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥ ६।१८

(७) परिग्रह—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। ६।२०

(८) संसार और मोक्ष—

अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ चूलिका २।३

(९) विहारचर्या—

अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ चूलिका २।५

(१०) प्रतिबुद्धजीवी—

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी सो जीवइ संजमजीविएणं ॥ चूलिका २।१५

१०—चूलिका

चूलिका का अर्थ शिखा या चोटी है। छोटी चूला (चूडा) को चूलिका कहा जाता है।[१] यह इसका सामान्य शब्दार्थ है। साहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ मूल शास्त्र का उत्तर-भाग होता है। इसलिए चूलिका द्वय को 'दशवैकालिक' का 'उत्तर-तंत्र' कहा गया है।[२] तंत्र, सूत्र और ग्रन्थ ये एकार्थक शब्द हैं।[३] आजकल सम्पादन में जो स्थान परिशिष्ट का है, वही स्थान प्राचीन काल में चूलिका का रहा है। मूल सूत्र में अवर्णित अर्थ का और वर्णित अर्थ का स्पष्टीकरण करना इसकी रचना का प्रयोजन है।[४] अगस्त्यसिंह ने इसकी व्याख्या में इसे उक्त और अनुक्त दोनों प्रकार के अर्थों का सग्राहक लिखा है।[५] टीकाकार ने सग्रहणी का अर्थ किया है—शास्त्र में उक्त और अनुक्त अर्थ का सक्षेप।[६] शीलाङ्क सूरि चूलिका को अग्र बतलाते हैं।[७] अग्र का अर्थ वही है जो 'उत्तर'

१—अगस्त्य चूर्णि :

अप्पाचूला चूलिया।

२—(क) अगस्त्य चूर्णि

तं पुण चूलिका दुतं उत्तर तंतं जधा आयारस्स पंचचूला उत्तरमिति जं उवरिसत्यस्स।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३४९ :

तं पुण चूलियदुगं उत्तरं तंतं नायव्वं, जहा आयारस्स उत्तरं तंतं पंच चूलाओ, एवं दसवेयालियस्स दोण्णि चूलाओ उत्तरं तंतं भवइ।

३—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ३४९ :

तंतंति वा सुत्तो त्ति वा गंथो त्ति वा एगट्ठा।

४—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३५९ :

तं पुण उत्तरतंतं सुअगहिअत्थ तु संगहणी॥

५—अगस्त्य चूर्णि :

जं अवण्णितोव संगहत्यं सुतगहितत्थं—सुते जे गहिता अत्था तेसिं फुडीकरणत्थं सगहणी।

६—हारिभद्रीय टीका, पत्र २६९ :

संग्रहणी तदुक्तानुक्तार्थसंक्षेप।

७—आचारांग २।१ वृत्ति, पत्र २८९ :

अनभिहितार्थाभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपञ्चाय तदग्रभूताश्चतस्रश्चूडा उक्तानुक्तार्थसंग्राहिका: प्रतिपाद्यन्ते।

का है। आचाराग की व्याख्या में दशवैकालिक की और दशवैकालिक की व्याख्या में आचाराग की चूलिका का उल्लेख हुआ है।[1]

आगमो से सम्बन्ध रखने वाली चूलिकाएँ और संग्रहणी ग्रन्थ अनेक है। मूल आगम और संग्रहणी व चूलिका के कर्त्ता एक नही रहे हैं। संग्रहणी व चूलिका बहुधा भिन्न-भिन्न कर्तृक प्रतीत होती हैं फिर भी मूल शास्त्र की जानकारी के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण उनको आगम के अंग रूप में स्वीकार किया गया है।

परिशिष्ट-पर्व के अनुसार नन्द-साम्राज्य के प्रधान मत्री शकडाल के द्वितीय पुत्र श्रीयक जैन मुनि बने। सम्वत्सरी पर्व आया। उस दिन उपवास करना जैन मुनि के लिए अनिवार्य है। वे उपवास करने में असमर्थ थे। उनकी बहिन यक्षिणी, जो साध्वी थी, को इसका पता चला। वह भाई के पास आई और ज्यो-त्यों प्रयत्न कर उनसे उपवास करवाया। श्रीयक उपवास में चल बसे। बहिन के मन में सन्देह हो गया कि वह मुनि-घातिका है। आचार्य ने कहा—"तुम घातिका नही हो। तुमने समझाया था, किन्तु बल-प्रयोग नही किया था।" फिर भी सन्देह नही मिटा। उस समय शासन-देवी उसे महा-विदेह क्षेत्र में सीमधर स्वामी के पास ले गई। सीमंधर स्वामी ने उसे निर्दोष बताया। केवली के मुख से अपने को निर्दोष सुन वह नि शंक हो गई। वहाँ से लौटते समय भगवान् सीमधर ने उसे चार अध्ययन दिए। वह वापस अपने क्षेत्र में आई। श्रीसंघ ने उनमें से पिछले दो अध्ययन दशवैकालिक के साथ जोड दिए।[2] निर्युक्ति की एक गाथा में इसका उल्लेख मिलता है।[3] चूर्णिकार इसके बारे में मौन है। टीकाकार ने दूसरी

१–(क) आचाराग २।१ वृत्ति, पत्र २८९ ·

यथा दशवैकालिकस्य चूडे।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २६९ ·

आचारपञ्चचूडावत्।

२–परिशिष्ट-पर्व, ९।९।८३-१०० ।

३–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४४७ ·

आओ दो चूलियाओ आणीया जक्खिणीए अज्जाए।
सीमंधरपासाओ भवियाणविवोहणट्ठाए ॥

चूलिका के पहले श्लोक की व्याख्या में उक्त घटना का संकेत किया है।[1] किन्तु, उन्होंने निर्युक्ति की उक्त गाथा का अनुसरण नहीं किया। इससे इस गाथा की मौलिकता संदिग्ध हो जाती है।

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र २७८-२७९ :

एवं च वृद्धवादः—कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः कुरगडुक प्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थंकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीपं, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति।

११—दशवैकालिक और आचारांग-चूलिका

जिस प्रकार दशवैकालिक के अन्त में दो चूलिकाएँ है, उसी प्रकार आचाराग के साथ पाँच चूलिकाएँ जुडी हुई हैं।[1] चार चूलिकाओ का एक स्कन्ध है। यही आचाराग का द्वितीय श्रुत-स्कन्ध कहलाता है। पाँचवी चूलिका का नाम 'निशीथ' है।[2] निर्युक्तिकार के अनुसार प्रथम चार चूलिकाएँ आचाराग के अध्ययनो से उद्धृत की गई हैं और 'निशीथ' प्रत्याख्यान-पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवें प्राभृत से उद्धृत की गयी है।[3]

दशवैकालिक और आचाराग-चूलिका में विपय और शब्दो का बहुत ही साम्य है। सभव है इनका उद्धरण किसी एक ही शास्त्र से हुआ हो। दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार धर्म-प्रज्ञप्ति (चतुर्थ अध्ययन) आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से, पिण्डैषणा (पाँचवाँ अध्ययन) कर्म-प्रवाद (आठवें) पूर्व से, वाक्यशुद्धि (सातवाँ अध्ययन)

१—आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११

णववंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं॥

२—वही, गाथा ३४७

आयारस्स भगवओ चउत्यचूलाइ एस निज्जुत्ती।
पंचम चूलनिसीह तस्स य उवरिं भणीहामि॥

३—वही, गाथा २८८-२९१

विइअस्स य पंचमए अट्ठमगस्स विइयमि उद्देसे।
भणिओ पिण्डो सिज्जा वत्थं पाउग्गहो चेव॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वण्णिज्जई समासेणं।
छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि॥
सत्तिक्गाणि सत्तवि निज्जूढाइं महापरिन्नाओ।
सत्यपरिन्ना भावण निज्जूढाओ धुयविमुत्ती॥
आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया॥

सत्य-प्रवाद (छठे) पूर्व से और शेष सब अध्ययन प्रत्याख्यान (नवें) पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए है ।[1]

इस प्रकार निर्युक्तिकार के अभिमत से दशवैकालिक के तीन अध्ययनो को छोड शेष सभी अध्ययनो और निशीथ का निर्यूहण नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है। दशवैकालिक में आचार का निरूपण है और निशीथ मे आचार-भंग की प्रायश्चित्त-विधि है। दोनो का विषय आपस में गुथा हुआ है ।

पिण्डैषणा और भाषाजात का समावेश आचाराग की पहली चूला में होता है ।[2] आचाराग के दूसरे अध्ययन (लोक-विजय) के पाँचवें उद्देशक और आठवें (विमोह)

१–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६,१७ ·

(क) आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

(ख) अगस्त्य चुर्णि

आयप्पवाय पुव्वा गाहा । सच्चप्पवात । वितिओ विय आदेसो । आयप्पवाय पुव्वातो धम्मपण्णत्ती निज्जूढा, सा पुण छ जीवणिया । कम्मप्पवायपुव्वाओ पिण्डेसणा । आह चोदगो कम्मप्पवायपुव्वे कम्मे वणिज्जमाणे को अवसरो पिण्डेसणाए ? गुरवो आणवेति असुद्ध पिण्ड-परिभोगो कारणं कम्मबंधस्स, एस अवकासो । भणियं च पण्णत्तीए— "आहाकम्मं णं भंते ! भुंजमाणे कतिकम्म" (भग० १।९।७९) सुत्तालावओ विभासितव्वो ॥ ५ ॥ सच्चपवायाओ वक्कसुद्धी । अवसेसा अज्झयणा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूता ।

२–आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११, वृत्ति :

तत्र प्रथमा—"पिण्डेसण सेज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा ।" उग्गहपडिमत्ति सप्ताध्ययनात्मिका, द्वितीया सत्तसत्तिकाया, तृतीया भावना, चतुर्थी विमुक्ति, पंचमी निशीथाध्ययनम् ।

अध्ययन के दूसरे उद्देशक से पिण्डैषणा अध्ययन उद्धृत किया गया है। छठे (धूत) अध्ययन के पाँचवें उद्देशक से भाषा-जात का निर्यूहण किया गया है।[1]

दशवैकालिक के पिण्डैषणा (पाँचवें अध्ययन) और वाक्यशुद्धि (सातवें अध्ययन) में तथा आचाराग-चूला के पिण्डैषणा (प्रथम अध्ययन) और भाषाजात (चौथे अध्ययन) में शाब्दिक और आर्थिक—दोनों प्रकार की पर्याप्त समता है। उसे देखकर सहज ही यह कल्पना हो सकती है कि इनका मूल स्रोत कोई एक है। इन दोनों आगमो की निर्युक्तियो के कर्त्ता एक ही व्यक्ति है।[2] उनके अनुसार इनके मूल स्रोत भिन्न है। आचाराग-चूला के अध्ययनो का स्रोत आचाराग और दशवैकालिक के अध्ययनो का स्रोत पूर्व है। किन्तु निर्युक्तिकार ने दशवैकालिक के निर्यूहण के बारे में जो संकेत किया है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि उस दूसरे विकल्प को स्वीकार किया जाय तो दशवैकालिक के इन दो अध्ययनो का स्रोत वही हो सकता है, जो आचाराग-चूला के पिण्डैषणा और भाषाजात का है। पूर्व अभी उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए निर्यूहण के पहले पक्ष के बारे में कुछ कहा नही जा सकता है। दूसरे पक्ष की दृष्टि से परामर्श किया जाए तो दशवैकालिक का अधिकाश भाग उपलब्ध अंगो व अन्य आगमो में प्राप्त हो सकता है। कुछ आधुनिक विद्वानो ने आचाराग-चूला के पिण्डैषणा और भाषाजात

१—आचाराग निर्युक्ति, गाथा २८८-२८९

बिइअस्स य पंचमए अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे।
भणिओ पिण्डो ॥
· · ।
छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि॥
(विशेष जानकारी के लिए इन गाथाओ की वृत्ति देखे।)

२—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ८४-८६ .

आवस्सयस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणं च॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वोच्छं इसिभासिआणं च॥
एएसिं निज्जुत्तिं वोच्छामि अहं जिणोवएसेणं।
आहरण-हेउ- कारण- पय-निवहमिणं समासेणं॥

की रचना का आधार दशवैकालिक को माना है और कुछ विद्वान् दशवैकालिक के पिण्डैषणा और वाक्यशुद्धि की रचना का आधार आचारांग-चूला को मानते है।[1]

किन्तु निर्युक्तिकार के मत से दोनो आधुनिक मान्यताएँ त्रुटि-पूर्ण है। उनके अनुसार आचार-चूला आचारांग के अर्थ का विस्तार है। विस्तार करने वाले आचार्य का नाम सम्भवत उनको भी ज्ञात नही था। इसीलिए उन्होने आचारांग-चूला को स्थविर-कर्तृक बताया है।[2] दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव भी चतुर्दश-पूर्वी थे और आचारांग-चूला के कर्त्ता भी चतुर्दशपूर्वी थे।[3]

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यो मे प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत-विजय, भद्रबाहु और स्थूलिभद्र—ये छ आचार्य चतुर्दशपूर्वी है। इनमें आगमकर्त्ता के रूप में शय्यम्भव और भद्रबाहु—ये दो ही आचार्य विश्रुत है। शय्यम्भव दशवैकालिक के और भद्रबाहु छेद-सूत्रो के कर्त्ता माने जाते है। निशीथ आचारांग की पाँच चूलाओं में से एक है। इसलिए पाँचो चूलाओ का कर्त्ता एक ही होना चाहिए। चार चूलाओ को एक क्रम में पढा जा सकता है। निशीथ को परिपक्व बुद्धि वाले को ही पढ़ने का अधिकार है।[4] इसलिए सम्भव है कि प्रथम चार चूलाओ की एक श्रुत-स्कन्ध के रूप में और निशीथ की स्वतंत्र आगम के रूप में योजना की गई।

१—देखिये—एनेल्स ऑफ भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट, जिल्द १७, १९३६ में प्रकाशित डॉ० ए० एम० घाटगे का "ए फ्यु पैरेलल्स इन जैन एण्ड बुद्धिस्ट वर्क्स" शीर्षक लेख।

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७ :

थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयारो अत्थो आयारंगेसु पविभत्तो॥

३—वही गाथा, २८७ वृत्ति :

'स्थविरै' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानीति।

४—निशीथ-भाष्य चूर्णि, प्रथम विभाग, पीठिका, पृष्ठ ३ :

आइल्लाओ चत्तारिचूलाओ कमेणेव अहिज्जंति, पंचमी चूला आयारपकप्पो ति-वास-परियागस्स आरेण ण दिज्जति, ति-वास-परियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणामगस्स वा न दिज्जति आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति।

पंचकल्प भाष्य और चूला के अनुसार निशीथ के कर्त्ता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु है।[1] इसलिए आचाराङ्ग (चार चूलाओ) के कर्त्ता भी वे ही होने चाहिए। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध दशवैकालिक के बाद की रचना है। आचार्य भद्रबाहु ने, निर्युक्तिकार के अनुसार, आचाराङ्ग के आधार पर प्रथम चार चूलाओ की रचना की है। किन्तु प्रथम चूला के दो अध्ययनो (पिण्डैषणा और भाषाजात) की रचना में दशवैकालिक का अनुसरण किया है अथवा यों भी माना जा सकता है कि दोनो आचार्यो ने एक ही स्थान (नवें पूर्व के आचार प्राभृत) से इन अध्ययनो का विषय चुना, इसलिए इनमें इतना शाब्दिक और आर्थिक साम्य है। इस कल्पना के लिए कुछ आधार भी हैं। दोनो आगमो के इन अध्ययनो में विषय का निर्वाचन न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है। आचाराङ्ग की पिण्डैषणा में 'संखडि' का एक लम्बा प्रकरण है किन्तु दशवैकालिक की पिण्डैषणा में उसका उल्लेख तक नही है। इसी प्रकार वाक्यशुद्धि अध्ययन में भी बहुत अन्तर है।

दोनों आगमों मे प्राप्त अन्तर का अध्ययन करने के बाद भी आचाराङ्ग की प्रथम चूला के प्रथम पिण्डैषणा और भाषाजात के निर्माण में दशवैकालिक का योग है—इस अभिमत को अस्वीकार नही किया जा सकता।

दशवैकालिक की रचना आचाराङ्ग-चूला से पहले हो चुकी थी, इसका पुष्ट आधार प्राप्त होता है। प्राचीन काल में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) पढ़ने के बाद उत्तराध्ययन पढा जाता था, किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् वह दशवैकालिक के बाद पढा जाने लगा।

प्राचीन काल में 'आमगंध' (आचाराङ्ग १।२।५) का अध्ययन कर मुनि पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) होते थे। फिर वे दशवैकालिक के पिण्डैषणा के अध्ययन के पश्चात् पिण्डकल्पी होने लगे।

यदि आचाराङ्ग-चूला की रचना पहले हो गई होती तो दशवैकालिक को यह स्थान प्राप्त नही होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि आचाराङ्ग-चूला की रचना दशवैकालिक के बाद हुई है।

१—(क) पंचकल्प भाष्य, गाथा २३

आयार दसा कप्पो, ववहारो णवम पुव्वणीसंदो।
चारित्त रखणट्ठा, सूयकडस्सुवरि ठवियाइं॥

(ख) पंचकल्प चूर्णि

तेण भगवता आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्व नीसंदभूता निज्जूढा।

दशवैकालिक और आचरांग-चूलिका के तुलना-स्थल :

शब्द और भाव-साम्य

दशवैकालिक	आचारांग-चूलिका
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया। जयं परिट्ठवेज्जा, ... ॥ (५।१।८१)	...एगंतमवक्कमेत्ता...ततो संजयामेव परिट्ठावेज्जा। (२।१।१।४)
तरुणियं व छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं। देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ (५।२।२०)	...तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंत-भज्जियं पेहाए, अफासुयं अणेसणिज्जंति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। (२।१।१।५)
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा। जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं॥ पुण्णट्ठा ,, ,, ॥ वणिमट्ठा ,, ,, ॥ समणट्ठा पगडं इमं॥ तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं। देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ (५।१।४७,४९,५१,५३,५४)	जं पुण जाणिज्जा, असणं वा (४) बहवे ... समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए पगणिय पगणिय समुद्दिस्स पाणाइं वा (४) जाव समारब्भ आसेविय वा अफासुयं अणेसणिज्जंति मण्णमाणे लाभे संते जाव णो पडिगाहिज्जा। (२।१।१।१५)

उद्देसिय कीयगड,
पूईकम्म च आहडं।
अज्झोयर पामिच्च,
मीसजाय च वज्जए॥
(५।१।५५)

आहाकम्मिय वा, उद्देसिय वा, मीसजायं वा, कीयगडं वा, पामिच्चं वा, अच्छेज्ज वा, अणिसट्ठ वा, अभिहडं वा, आहट्टु दिज्जमाण भुजेज्जा अभिसंधारिज्जा गमणाए।
(२।१।२।२७)

न चरेज्ज वासे वासते,
महियाए व पडतीए।
महावाए वायते,
तिरिच्छसपाइमेसु वा॥
(५।१।८)

तिव्वदेसिय वासं वासमाण पेहाए णो • पविसिज्ज वा णिक्खमिज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।
(२।१।३।३८)

ओवाय विसम खाणु,
विज्जल परिवज्जए।
सक्रमेण न गच्छेज्जा,
विज्जमाणे परक्कमे॥
(५।१।४)

ओवाओ वा, खाणू वा, कटए वा, घसी वा, भिलूगा वा, विसमे वा, विज्जले • णो उज्जुयं गच्छेज्जा।
(२।१।५।५१)

साणीपावारपिहिय,
अप्पणा नावपगुरे।
कवाड नो पणोल्लेज्जा,
ओग्गहसि अजाइया॥
(५।१।१८)

गाहावइकुलस्स दुवारबाह कटकबोंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो अवगुणिज्ज वा, पविसिज्ज वा, णिक्खमिज्ज वा।
(२।१।५।५२)

निस्सेणिं फलगं पीढं,
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं,
समणट्ठाए व दावए ॥
(५।१।६७)

दुरूहमाणी पवडेज्जा,
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा,
जे य तन्निस्सिया जगा ॥
(५।१।६८)

एयारिसे महादोसे,
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं,
न पडिगेण्हंति संजया ॥
(५।१।६९)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा (४) खंधंसि वा, थंभंसि वा, मंचंसि वा, मालंसि वा, पासायंसि वा, हिम्मियतलंसि वा, अन्नयरंसि वा, तहप्पगारंसि अन्तलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया, तहप्पगारं मालोहडं असणं वा (४) अफासुयं जाव णो पडिगाहिज्जा ।

केवली बूया "आयाणमेयं"— असंजए भिक्खुपडियाए पीढं वा, फलगं वा, णिस्सेणिं वा, उदूहलं वा, अवहट्टु उस्सविय आरुहेज्जा, से तत्थ दुरुहमाणे, पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा, हत्थं वा, पायं वा, बाहुं वा, ऊरुं वा, उदरं वा, सीसं वा, अण्णयरं वा कायंसि इन्दियजायं लूसिज्ज वा, पाणाणि वा, भूयाणि वा, जीवाणि वा, सत्ताणि वा, अभिहणिज्ज वा, वत्तेज्ज वा, लेसिज्ज वा, संघसेज्ज वा, संघट्टेज्ज वा, परियावेज्ज वा, किलामेज्ज वा, ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा (४) लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।
(२।१।७।१,७२)

दगवारएण पिहियं,
नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण,
सिलेसेण व केणई ॥
तं च उब्भिंदिया देज्जा,
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिसं ॥
(५।१।४५,४६)

··· मट्टियाओलित्तं तहप्पगारं असणं वा (४) जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ·
·· ···उब्भिंदमाणे· ·णो पडिगाहेज्जा ··।
(२।१।७।७४,७५)

असण पाणगं वा वि,
खाइम साइम तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्त,
उत्तिंगपणगेसु वा ॥
(५।१।५९)

त भवे भत्तपाण तु,
सजयाण अकप्पिय।
देंतिय पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिस ॥
(५।१।६०)

असण पाणग वा वि,
खाइम साइम तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्त,
त च सघट्टिया दए ॥
(५।१।६१)

त भवे भत्तपाण तु,
सजयाण अकप्पिय।
देंतिय पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिस ॥
(५।१।६२)

(एव) उस्सक्किया ओसक्किया,
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिचिया निस्सिचिया,
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥
(५।१।६३)

से जं पुण जाणिज्जा, असणं वा (४) आउ-कायपइट्ठियं चेव एव अगणिकायपइट्ठिय लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, 'केवली बूया'—"आयाणमेयं" अस्संजए भिक्खूपडियाए अगणि ओसक्किय २ णिसिक्किय २ ओह-रिय २ आहट्टु, दलएज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा जाव णो पडिगाहेज्जा।

(२।१।७।७७)

तहेवुच्चावय पाण,
अदुवा वारधोयण।
ससेइम चाउलोदग,
अहुणाधोय विवज्जए ॥
(५।१।७५)

तंजहा उस्सेइम वा, संसेइमं वा, चाउलोदग वा, अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं, अहुणाधोय, अणबिलं, अवोक्कतं, अपरिणय णो पडिगाहेज्जा।

(२।१।७।८१)

ज जाणेज्ज चिराधोय,
मईए दसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा,
ज च निस्सकिय भवे ॥
(५।१।७६)

·····अह पुण एव जाणेज्जा, चिराधोयं, अंबिलं, वुक्कंतं, परिणयं, विद्धत्थं, फासुय जाव पडिगाहेज्जा।
(२।१।७।८२)

सालुय वा विरालिय,
कुमुदुप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालिय,
उच्छुखड अनिव्वुड ॥
(५।२।१८)

तरुणग वा पवाल,
रुक्खस्स तणगस्स वा।
अन्नस्स वा वि हरियस्स,
आमग परिवज्जए ॥
(५।२।१९)

·से ज्ज पुण जाणेज्जा, सालुय वा, विरालियं, सासवणालियं वा, अण्णतर वा तहप्पगारं आमगं, असत्थपरिणय, अफासुय जाव णो पडिगाहेज्जा।
(२।१।८।८८)

· ·
· · · ।
· · ·सिंगवेर च,
आमग परिवज्जए ॥
(५।१।७०)

· ·· सिंगवेरं वा सिंगवेरचुन्नं वा अण्णतर वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।
(२।१।८।८६)

उप्पल पउम वा वि,
कुमुय वा मगदंतिय।
अन्न वा पुप्फ सच्चित्त,
त च सलुंचिया दए ॥
(५।२।१४)

· ··से ज्जं पुण जाणिज्जा, उप्पलं वा, उप्पलं नालं वा, भिस वा, भिसमुणाल वा, पोक्खलं वा, पोक्खलविभगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं जाव णो पडिगाहेज्जा।
(२।१।८।९६)

त भवे भत्तपाणं तु,
सजयाण अकप्पिय।
देंतिय पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिसं ॥
(५।२।१५)

तहा कोलमणुस्सिन्नं,
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२१)

तहेव चाउलं पिट्ठं,
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठं पूइ पिन्नागं,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२२)

तहेव फलमंथूणि,
बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च,
आमगं परिवज्जए ॥
(५।२।२४)

सिया एगइओ लद्धुं,
लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं,
दट्ठूणं सयमायए ॥
(५।२।३१)

सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाणभोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा,
विवण्णं विरसमाहरे ॥
(५।२।३३)

से जं पुण जाणिज्जा, अत्थियं वा, कुंभिपक्कं, तिंदुगं वा, वेलुयं वा, कासवणालियं वा, अण्णतरं वा आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।
(२।१।८।१००)

से जं पुण जाणिज्जा, कणं वा कणकुंडगं वा, कणपूयलियं वा, चाउलं वा, चाउलपिट्ठं वा, तिलं वा, तिलपिट्ठं वा, तिलपप्पडगं वा, अन्नतरं वा, तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।
(२।१।८।१०१)

से जं पुण मंथुजायं जाणिज्जा, तंजहा-उंबरमंथुं वा, णग्गोहमंथुं वा, पिलुक्खुमंथुं वा, आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं णो पडिगाहेज्जा ।
(२।१।८।९३)

मामेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए, आयरिए वा जाव णो किंचिवि णिगूहेज्जा ।
(२।१।१०।११३)

से एगइओ अण्णतरं भोयणजायं पडिगाहेत्ता, भद्दयं भद्दयं भोच्चा, विवन्नं विरसमाहरइ माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा ।
(२।१।१०।११४)

बहु-अट्ठियं पुग्गलं,
अणिमिसं वा बहु-कंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं,
उच्छु-खंडं व सिंबलिं ॥
(५।१।७३)

अप्पे सिया भोयणजाए
बहु - उज्झिय - धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे,
न मे कप्पइ तारिसं ॥
(५।१।७४)

से जं पुण जाणेज्जा, बहुअट्ठियं वा मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटयं अस्सिं खलु पडिगाहियंसि अप्पेसिया भोयणजाए बहु-उज्झियधम्मिए—तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं वा, मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा ।
(२।१।१०।११६)

चउण्हं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे,
दो न भासेज्ज सव्वसो ॥
(७।१)

अह भिक्खू जाणेज्जा चत्तारि भासज्जायाइं तंजहा—सच्चमेगं पढमं भासजायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं, जं णेव सच्चं णेव मोसं नेव सच्चामोसं असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासजातं ।
(२।४।१।७)

जा य सच्चा अवत्तव्वा,
सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना,
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥
(७।२)

·· जा य भासा सच्चा, जा य भासा मोसा··· ··तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं······णो भासेज्जा ।
(२।४।१।१०)

तहेव काणं काणे त्ति,
पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति,
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥
(७।१२)

··· णो एवं वएज्जा, तंजहा—गंडी गंडी ति वा, कुट्ठी कुट्ठी ति वा,···
(२।४।२।१६)

अज्जिए पज्जिए वा वि,
अम्मो माउस्सिय त्ति य।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति,
धूए नत्तुणिए त्ति य॥
(७।१५)

.. इत्थिं आमतेमाणे आमतिए य अपडि-सुणेमाणी नो एवं वएज्जा—होली वा गोली वा इत्थीगमेणं णेतव्वं।
(२।४।१।१४)

हले हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुले त्ति,
इत्थिय नेवमालवे॥
(७।१६)

नामधिज्जेण णं बूया,
इत्थीगोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ,
आलवेज्ज लवेज्ज वा॥
(७।१७)

इत्थियं आमंतेमाणे आमंतिए य अपडि-सुणेमाणी एव वएज्जा,—आउसो ति वा भगिणि ति वा भगवइ ति वा
(२।४।१।१५)

अज्जए पज्जए वा वि,
वप्पो चुल्लपिउ त्ति य।
माउला भाइणेज्ज त्ति,
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य॥
(७।१८)

पुम आमतेमाणे आमतिते वा अपडि-सुणेमाणे णो एव वएज्जा—होले ति वा गोले ति वा वसुले ति वा
(२।४।१।१२)

हे हो हले त्ति अन्ने त्ति,
भट्टा सामिय गोमिए।
होल गोल वसुले त्ति,
पुरिस नेवमालवे॥
(७।१९)

नामधेज्जेण णं बूया,
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ ,
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥
(७।२०)

पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडि-
सुणेमाणे एव वएज्जा अमुगे त्ति वा
आउसो त्ति वा आउसंतो त्ति वा······।
(२।४।१।१३)

तहेव मेहं व नहं व माणवं,
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए,
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥
(७।५२)

···· 'णो एव वएज्जा, णभोदेवे त्ति वा
गज्जदेवे त्ति वा विज्जुदेवे त्ति वा पवुट्ठदेवे
त्ति वा निवुट्ठदेवे त्ति वा
(२।४।१।१६)

अंतलिक्खे त्ति णं बूया,
गुज्झाणुचरिय त्ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स,
रिद्धिमंतं ति आलवे ॥
(७।५३)

·····अंतलिक्खे त्ति वा गुज्झाणुचरिए त्ति
वा संमुच्छिए त्ति वा णिवइए त्ति वा
पओएवएज्ज वा वुट्ठबलाहगे त्ति वा····।
(२।४।१।१७)

सुकडे त्ति सुपक्के त्ति,
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति,
सावज्ज वज्जए मुणी ॥
(७।४१)

··· णो एवं वएज्जा, तंजहा—सुकडे त्ति
वा सुट्ठुकडे त्ति वा साहुकडे त्ति वा कल्लाणे
त्ति वा करणिज्जे त्ति वा एयप्पगारं भासं
सावज्जं जाव णो भासेज्जा ।
(२।४।२।२३)

तहेव मणुस्सं पसु,
पक्खि वा वि सरीसिवं ।
थूले पमेइले वज्झे,
पाइमे त्ति य नो वए ॥
(७।२२)

मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा
पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं
वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए णो एवं
वएज्जा—थूले त्ति वा पमेइले त्ति वा वट्टे
त्ति वा वज्झे त्ति वा ····
(२।४।२।२५)

परिवुड्ढे त्ति णं बूया,
बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि,
महाकाए त्ति आलवे ॥
(७।२३)

मणुस्सं जाव जलयर वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वएज्जा तं जहा परिवूढकाए ति वा, उवचियकाए ति वा ··चियमंस-सोणिए ति वा ·

(२।४।२।२६)

तहेव गाओ दुज्झाओ,
दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिमा रहजोग त्ति,
नेव भासेज्ज पन्नवं।
(७।२४)

गाओ पेहाए णो एव वएज्जा, तजहा—गाओ दोज्झाओ ति वा दम्मे ति वा गोरह ति वा वाहिम ति वा रहजोग्ग ति वा एयप्पगार भासं सावज्ज जाव णो भासेज्जा।

(२।४।२।२७)

जुव गवे त्ति ण बूया,
घेणु रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि,
वए सवहणे त्ति य॥
(७।२५)

गाओ पेहाए एवं वएज्जा तंजहा—जुवगवे ति वा घेणु ति वा रसवइ ति वा हस्से ति वा महल्लए ति वा महव्वए ति वा संवहणे त्ति वा एयपप्पगारं भास असावज्ज जाव अभिकख भासेज्जा

(२।४।२।२८)

तहेव गतमुज्जाण,
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए,
नेव भासेज्ज पन्नव॥
(७।२६)

· तहेव गतुमुज्जाणाइ पव्वयाइ वणाणि य रुक्खा महल्ला पेहाए णो एव वएज्जा, तजहा—पासायजोग्गा ति वा गिहजोग्गा ति वा तोरणजोग्गा ति वा ।

(२।४।२।२९)

अर पासायखभाण,
तारणाण गिहाण य।
फलिहग्गल नावाण ,
अल उदगदा।णण॥
(७।२७)

तहेव गतुमुज्जाण,
पव्वयाणि वगाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए,
एवं भासेज्ज पन्नव ॥
(७।३०)

तहेव गतुमुज्जाणाइ पव्वयाणि वणाणि य रुक्खा महल्ला पेहाए एव वएज्जा, तंजहा—जातिमंता इवा दीहवट्टा ति वा पयायसाला ति वा विडिमसाला ति वा ।
(२।४।२।३०)

जाइमता इमे रुक्खा,
दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा,
वए दरिसणि त्ति य ॥
(७।३१)

तहा फलाइ पक्काइ,
पायखज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइ,
वेहिमाइ त्ति नो वए ॥
(७।३२)

बहुसभूया वणफला पेहाए तहावि ते णो एव वएज्जा तजहा—पक्का ति वा पायक्खज्जाति वा वेलोचिया ति वा टाला ति वा वेहिया ति वा एयप्पगार भास सावज्ज जाव णो भासेज्जा ।
(२।४।२।३१)

असथडा इमे अवा,
बहुनिवट्टिमा फला ।
वएज्ज बहुसभूया-
भूयरूव त्ति वा पुणो ॥
(७।३३)

बहुसभूया वणफला अबा पेहाए एवं वएज्जा, तजहा—असथडा ति वा बहुणिवट्टिमफला ति वा बहुसभूया ति वा भूयरुवि ति वा एयप्पगार भास असावज्ज जाव भासेज्जा ।
(२।४।२।३२)

तहेवोसहीओ पक्काओ,
नीलियाओ छवीइय ।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति,
पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥
(७।३४)

बहुसभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि ताओ णो एव वएज्जा, तजहा—पक्का ति वा नीलिया ति वा छवीया ति वा लाइमा ति वा भज्जिमा ति वा बहुखज्जा ति वा
(२।४।२।३३)

रूढा बहुसम्भूया,
थिरा ऊसढा वि य।
गब्भियाओ पसूयाओ,
ससाराओ त्ति आलवे ॥
(७।३५)

• बहुसभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि एव वएज्जा, तजहा—रूढा ति वा बहुसभूया ति वा थिरा ति वा ऊसढा ति वा गब्भिया ति वा पसूया ति वा ससारा ति वा
(२।४।२।३४)

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिर वएज्जा ॥
(७।५४)

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिर च दुट्ठ परिवज्जए सया।
मिय अदुट्ठ अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पससण ॥
(७।५५)

कोह च माण च माय च लोभ च अणुवीइ णिट्ठाभासी णिसम्म भासी अतुरियभासी विवेगभासी • ।
(२।४।२।३८)

१२–दशवैकालिक का उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

दशवैकालिक का उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं मे है। नंदी के अतिरिक्त तत्त्वार्थ भाष्य और गोम्मटसार मे इसे अग-बाह्य श्रुत कहा है।[1] जयधवला के अनुसार यह सातवाँ अंग-बाह्य श्रुत है।[2] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार वक्ता तीन प्रकार के होते है—तीर्थंकर, गणधर और आरातीय आचार्य। काल-दोष से आयु, मति और बल न्यून हुए, तब शिष्यो पर अनुग्रह कर आरातीय आचार्यो ने दशवैकालिक आदि आगम रचे। घडा क्षीर-समुद्र के जल से भरा हुआ है, उसमें घडे का अपना कुछ नही है, जो कुछ है वह क्षीर-समुद्र का ही है, इसलिए उस घडे के जल में वही मिठास मिलती है जो क्षीर-समुद्र में होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी प्रयोजनवश पूर्वो या अंगो से किसी अग-बाह्य श्रुत की रचना करते है, उसमें उनका अपना नया तत्त्व कुछ भी नहीं होता, जो कुछ होता है वह अगो से गृहीत होता है इसलिए वह प्रामाणिक माना जाता है।[3]

दशवैकालिक के श्लोको का उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। यापनीय संघ में दशवैकालिक का अध्ययन होता था और वे इसे प्रमाण भी मानते थे। यापनीय संघ के आचार्य अपराजित सूरि ने भगवती आराधना की वृत्ति (विजयोदया) में दशवैकालिक का प्रयोग किया है।[4]

१–(क) तत्त्वार्थ भाष्य, १।२०।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७ :
दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।

२–कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृष्ठ १३।२५ :

३–सर्वार्थसिद्धि, १।२० :
आरातीयै पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।

४–मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३३३, वृत्ति, पत्र ६११।
(क) दशवैकालिकायाम उक्तं—
णग्गणस्स य मुण्डस्स य दीहलोमणखस्स य।
मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि॥
(ख) आचारप्रणिधौ भणितं—
प्रतिलिखेत् पात्रकम्बलं ध्रुवमिति। असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते।

आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्णि, उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति तथा उत्तराध्ययन चूर्णि में दशवैकालिक की गाथाओं का उद्धरण अथवा उसका उपयोग विविध स्थलों पर हुआ है। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है :

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति पत्र १४९ में दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन “छज्जीवणिया” का ‘षड्जीवनिका” के रूप में उल्लेख हुआ है—देखिए पृष्ठ ४० की पाद-टिप्पणी।

२—निशीथ चूर्णि विभाग	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
१	७	५।२।५
१	१३	१।१
१	१०६	५।१।८
१	१६३	७।४७
२	१२५	५।२।३३
२	१२६	५।१।९८
२	३५९	६।८
२	३६३	चू० २।१२
३	४८३	८।२६
३	५४७	५।१।७४
४	३१	५।२।८
४	३२	५।१।७३; ६।६०
४	३३	८।४०
४	१४३	८।५७
४	१५७	चू० २।५
४	२७२	४। सू० १३

३—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति	पत्र	दशवैकालिक के स्थल
१।३१ वृत्ति	५९	५।२।६
२।१२ वृत्ति	६४	६।१९,२१
३।१३ वृत्ति	१८६	९।२।२
५।३१ वृत्ति	२५४	८।६०
१५।२ वृत्ति	४१५	५।२।१ आदि-आदि

४—उत्तराध्ययन चूर्णि :	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
१।३४ चूर्णि	४०	५।१।२४
२।४१ चूर्णि	८३	चू०१।सू०१८
५।१८ चूर्णि	१३७	५।१।९४ आदि-आदि।

शय्यम्भव से पहले उत्तराध्ययन आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् इस क्रम मे परिवर्तन हुआ और वह दशवैकालिक के पश्चात् पढ़ा जाने लगा।[1] तेरापंथ-संघ में नव-दीक्षित मुनि को प्रारम्भ में यही सूत्र पढ़ाया जाता है। अन्य सम्प्रदायों में भी यही प्रथा है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार दशवैकालिक आरातीय आचार्य-कृत अंग-बाह्य श्रुत है। परन्तु माना जाता है कि वह आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है, वह अप्रमाण है।[2]

१—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३।

(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २ .

उत्तरज्झयणा पुव्वं आयारस्सुवरि आसि, तत्थेव तेसिं उवोद्घात संबंधाभिवत्याणं, ताणि पुण जप्पभिइं अज्जसेज्जंभवेण मणगपितुणा मणगहियत्थाए णिज्जूहियाणि दस अज्झयणाणि दसवियालिय मित्ति, तम्मि चरणकरणाणुयोगो वण्णिज्जति, तप्पभिइं च तस्सुवरि ठवित्ताणि।

(ग) उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, पत्र ५ :

आचारस्योपर्येव—उत्तरकालमेव 'इमानी'ति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि, पठितवन्त इति गम्यते, 'तु' विशेषणे, विशेषश्चाय यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रम, तदाऽस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति।

२—जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३।

१३—तुलना (जैन, बौद्ध और वैदिक)

भारतीय जन-मानस जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनो धाराओ से अभिषिक्त रहा है। इन तीनो मे अत्यन्त नैकट्य न भी रहा, तो भी उनके अन्तर्दर्शन में अत्यन्त दूरी भी नही रही। यही कारण है कि उन तीनों में एक दूसरे का प्रतिबिम्व मिलता है। कौन किस का ऋणी है, यह सहजतया नही कहा जा सकता। सत्य की सामान्य अभिव्यक्ति सव में है और इसी को हम तुलनात्मक अध्ययन कहते है। सत्य एक है। उसकी किसी के साथ तुलना नही होती। उसकी शव्दो में जो समान अभिव्यक्ति होती है, उसी की तुलना होती है।

इस सूत्र के कतिपय पद्यो की बौद्ध तथा वैदिक साहित्य के पद्यों से तुलना होती है। कही-कही शब्दसाम्य और कही-कही अर्थसाम्य भी है। वह यों है—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो। देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो॥ (१।१)	यम्हि सच्च च धम्मो च, अहिंसा सयमो दमो। स वे वतमलो धीरो, सो थेरोति पवुच्चति॥ (धम्मपद १९।६)
जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रस। न य पुप्फ किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पय॥ (१।२)	यथापि भमरो पुप्फ, वण्ण-गध अहेठय। पलेति रसमादाय, एव गामे मुनी चरे॥ (धम्मपद ४।६)
कह नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए। पए पए विसीयतो, सकप्पस्स वस गओ॥ (२।१)	कतिह चरेय्य सामञ्ञ, वित्तं चे न निवारए। पदे पदे विसीदेय्य, सङ्कप्पान वसानुगो॥ (सयुत्तनिकाय १।१।१७)

४—उत्तराध्ययन चूर्णि :	पृष्ठ	दशवैकालिक के स्थल
१।३४ चूर्णि	४०	५।१।२४
२।४१ चूर्णि	८३	चू०१।सू०१८
५।१८ चूर्णि	१३७	५।१/९४ आदि-आदि।

शय्यम्भव से पहले उत्तराध्ययन आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था किन्तु दशवैकालिक की रचना के पश्चात् इस क्रम में परिवर्तन हुआ और वह दशवैकालिक के पश्चात् पढ़ा जाने लगा।[1] तेरापंथ-संघ में नव-दीक्षित मुनि को प्रारम्भ में यही सूत्र पढ़ाया जाता है। अन्य सम्प्रदायों में भी यही प्रथा है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुसार दशवैकालिक आरातीय आचार्य-कृत अंग-बाह्य श्रुत है। परन्तु माना जाता है कि वह आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है, वह अप्रमाण है।[2]

१—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३।

(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २ .

उत्तरज्झयणा पुव्वं आयारस्सुवरि आसि, तत्थेव तेसिं उयोद्घात संबंधा-निवत्याण, ताणि पुण जप्पभिइ अज्जसेज्जंभवेण मणगपितुणा मणगहियत्थाए णिज्जूहियाणि दस अज्झयणाणि दसवियालिय मित्ति, तम्मि चरणकरणाणु-योगो वण्णिज्जति, तप्पभिइं च तस्सुवरि ठवित्ताणि।

(ग) उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति, पत्र ५ :

आचारस्योपर्यैव—उत्तरकालमेव 'इमानी'ति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि, पठितवन्त इति गम्यते, 'तु' विशेषणे, विशेषश्चाय यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रम, तदाऽन्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति।

२—जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा। वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥ (३।१२)	ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिक। आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तप॥ (मनुस्मृति ६।२३)
कहं चरे ? कहं चिट्ठे, ? कहमासे ? कहं सए ?। कहं भुंजन्तो भासन्तो, ? पावं कम्मं न बंधई ?॥ (४।७)	स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव। स्थितधी किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्॥ (गीता २।५४)
जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए। जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधई॥ (४।८)	यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये। यतं सम्मिञ्जये भिक्खू, यतमेनं पसारए॥ (इतिवुत्तक १२)
सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ। पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई॥ (४।९)	योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रिय। सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (गीता ५।७)

विरत्थु ते जसोकामी,
जो त जीवियकारणा।
वन्त इच्छसि आवेडं,
सेय ते मरण भवे ॥
(२।७)

विरत्थु तं विस वन्तं,
यमह जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि,
मतम्मे जीविता वर ॥
(विसवन्त जातक ६९)

उद्देसियं कीयगडं,
नियागमभिहडाणि य।
राडभत्ते सिणाणे य,
गंधमल्ले य वीयणे ॥
सन्निही गिहिमत्ते य,
रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य,
संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥
(३।२,३)

केश-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि बिभृयाद् दत।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशय ॥
(भागवत ११।१८।३)

धूवणेत्ति वमणे य,
वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य,
गायाभंगविभूसणे ॥
(३।९)

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रता ॥
(भागवत ७।१२।१२)

आयावयति गिम्हेसु,
हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसलीणा,
संजया सुसमाहिया ॥
(३।१२)

ग्रीष्मे पचतपास्तु स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिक ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयस्तप ॥
(मनुस्मृति ६।२३)

कहं चरे ? कह चिट्ठे, ?
कहमासे ? कह सए ? ।
कह भुजन्तो भासन्तो, ?
पावं कम्मं न बधई ? ॥
(४।७)

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥
(गीता २।५४)

जयं चरे जय चिट्ठे,
जयमासे जय सए ।
जय भुजन्तो भासन्तो,
पाव कम्म न बधई ॥
(४।८)

यतं चरे यत तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये ।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू, यतमेनं पसारए ॥
(इतिवुत्तक १२)

सव्वभूयप्पभूयस्स ,
सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दतस्स,
पावं कम्म न बधई ॥
(४।९)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा,
विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा ,
कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गीता ५।७)

पढम नाण तओ दया,
एव चिट्ठइ सव्वसजए ।
अन्नाणी किं काही ?
किं वा नाहिइ छेय पावग ? ॥
(४।१०)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
(गीता ४।३८)

कालेण निक्खमे भिक्खू,
कालेण य पडिक्कमे ।
अकाल च विवज्जेत्ता,
काले काल समायरे ॥
(५।२।४)

काले निक्खमणा साधु,
नाकाले साधु निक्खमो ।
अकालेनहि निक्खम्म,
एककंपि बहूजनो ॥
(कोशिक जातक २२६)

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति,
जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणवह घोर,
निग्गथा वज्जयति ण ॥
(६।१०)

सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा,
नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि ।
एवं पियो पुथु अत्ता परेस,
तस्मा न हिंसे परमत्तकामो ॥
(संयुत्तनिकाय १।३।८)

उवसमेण हणे कोह,
. ... ॥
(८।३८)

अक्रोधेन जिने कोध ।
(धम्मपद १७।३)

थभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फल व कीचस्स वहाय होइ ॥
(९।१।१)

यो सासन अरहतं अरियान धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठि निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फुल्लति ॥
(धम्मपद १२।८)

तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे न निहावए जे
स भिक्खू ॥
(१०।८)

अन्नानमथो पानानं,
खादनीयानमथो पि वत्थानं ।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा,
न च परित्तसे तानि अलभमानो ॥
(सुत्तनिपात ५२।१०)

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा,
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमधुवजोगजुत्ते ,
उवसंते अविहेडए जे
स भिक्खू ॥
(१०।१०)

न च कत्थिता सिया भिक्खू,
न च वाचं पयुतं भासेय्य ।
पागब्भियं न सिक्खेय्य,
कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य ॥
(सुत्तनिपात ५२।१६)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोसपहारतज्जणाओ य ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे ,
समसुहदुक्खसहे य जे
स भिक्खू ॥
(१०।११)

भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं ।
रुक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गुहासु वा ॥
उच्चावचेसु, सयनेसु, कीवन्तो तत्थ भेरवा ।
ये हि भिक्खु न वेधेय्य, निग्घोसे सयनासने ॥
(सुत्तनिपात ५४।४,५)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणई जे
स भिक्खू ॥
(१०।१५)

हत्थसयतो पादसंयतो,
वाचाय संयतो संयतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो,
एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खु ॥
(धम्मपद २५।३)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उञ्छ चरे जीविएनाभिकखे।
इड्डि च सक्कारण पूयण च,
चए ठियप्पा अणिहे जे
स भिक्खू ॥
(१०।१७)

चक्खूहि नेव लोलस्स,
गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य,
न च ममायेथ किंचि लोकस्मि ॥
(सुत्तनिपात ५२।८)

अध्याय २

अन्तरंग परिचय

१–साधना

समग्र-दर्शन :

निर्युक्ति आदि व्याख्याओं के अनुसार हम दशवैकालिक के विषय की मीमासा कर चुके है। अव स्वतंत्र दृष्टि से इस पर विचार करेंगे। परिच्छेदों के क्रम से यह अनेक भागों में वॅटा हुआ है। पर समग्र-दृष्टि से देखा जाए तो यह अहिंसा का अखण्ड दर्शन है।

अहिंसा परम धर्म है। शेष सब महाव्रत उसी के प्रकार है।[1] भगवान् महावीर के आचार का केन्द्र-बिन्दु अहिंसा है। उन्होंने भिक्षु के लिए आचार और अनाचार, विधि और निषेध तथा उत्सर्ग और अपवाद का जो रूप स्थिर किया, उसका मौलिक आधार अहिंसा है। कुछ विधि-निषेध सयमी जीवन की सुरक्षा[2] और कुछ प्रवचन-गौरव[3] (संघीय महत्व) की दृष्टि से भी किए गए है, किन्तु वे भी अहिंसा की सीमा से परे नहीं है। जो निषेध अहिंसा की दृष्टि से किए गए हैं, उनका विधान नही किया, उनको अनाचार की कोटि में ही रखा। किन्तु जिनका निषेध तितिक्षा की दृष्टि से किया, उनका विशेष स्थिति में विधान भी किया।

अहिंसा धर्म का एक रूप है और उसका दूसरा रूप है परीषह-सहन।[4] दूसरे रूप की अभिव्यक्ति 'देहे दुक्ख महाफल' (८।२७)—देह में दु ख उत्पन्न होता है, उसे सहन करना महान् फलदायी है—इन शब्दो में हुई है। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने और सचित कर्म-फल को नष्ट करने के लिए भगवान् ने परीषह-सहन का उपदेश दिया।[5]

१–अगस्त्य चूर्णि .

अहिंसा परमो धम्मो, सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्यविसेसगाणि।

२–दशवैकालिक, ५।२।३।

३–वही, ५।२।१२।

४–सूत्रकृतांग, १।२।१।१४ वृत्ति

अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो॥ अनुगतो—मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्म्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षण, परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'मुनिना' सर्वज्ञेन 'प्रवेदित' कथित इति।

५–तत्त्वार्थसूत्र, ९।८ .

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या परीषहा.।

विनय के विना ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना सम्पन्न नही हो सकती और धर्म-शासन की व्यवस्था नही वन सकती, इसलिए भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है।[1]

साधना का उत्कर्ष अप्रमाद से होता है। अप्रमाद के मुख्य साधन है—स्वाध्याय और ध्यान। नीद, अट्टहास और काम-कथा—ये उनके वाधक हैं, इसलिए भगवान् ने कहा—नीद को वहुमान मत दो, अट्टहास मत करो और काम-कथा मत करो।[2]

निष्कर्ष की भाषा में—(१) अहिंसा और उसके विविध पहलू सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि, (२) संयमी जीवन की सुरक्षा, (३) प्रवचन-गौरव, (४) परीषह-सहन, (५) विनय और (६) साधना का उत्कर्ष—ये मूलभूत दृष्टियाँ हैं। इनके द्वारा भगवान् महावीर के आचार-निरूपण की यथार्थता देखी जा सकती है। सारे विधि-निषेधो को एक दृष्टिकोण से देखने पर जो असमंजसता आती है, वह समग्र-दृष्टि से देखने पर नही आती। आचार-दर्शन की ये दृष्टियाँ वे रेखाएँ हैं, जिनका एकीकरण निर्ग्रन्थ के जीवन का सजीव चित्र वन जाता है।

साधना के उत्कर्ष का दृष्टिकोण :

साधना का उत्कर्ष पाए विना साध्य नही सधता। सिद्धि का मतलब है साधना का उत्कर्ष। आत्मार्थी का साध्य मोक्ष होता है। उसका साधन है धर्म। उसकी साधना के तीन अंग है—अहिंसा, संयम और तप। इनसे तादात्म्य पाने का नाम 'योग' है। आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष से जोडने वाले समूचे धर्म-व्यापार को योग माना है।[3] आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपायभूत सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को योग कहा है।[4]

१–दशवैकालिक, ९।२।२ :
एवं धम्मस्स विणओ मूलं।

२–वही, ८।४१।

३–योगविन्दु, ३१ :
मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्म-वावारो।

४–(क) योगशास्त्र
मोक्षेण योजनाद् योग।

(ख) अभिधानचितामणि, १।७७ :
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मक।

योग शब्द युज् धातु से बनता है। उसके दो अर्थ हैं—जोडना और समाधि। पहले सम्बन्ध होता है फिर समाधि। मन आत्मा के साथ जुडता है, फिर स्थिर होता है। इसीलिए कहा है—मन, वाणी और कर्म को श्रमण-धर्म से जोडो। जो श्रमण-धर्म से युक्त है, उसे अनुत्तर-अर्थ (समाधि) की प्राप्ति होती है।[1] महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अगो का निरूपण किया है।[2]

जैन-परम्परा में प्राणायाम को चित्त-स्थिरता का हेतु नही माना गया है।[3] इसके अतिरिक्त शेष सात अग अपनी पद्धति से मान्य रहे है। श्रमण-धर्म की साधना का प्रारम्भ पाँच महाव्रतो के अगीकार से होता है। उनका चौथे अध्ययन में व्यवस्थित निरूपण हुआ है। पतजलि के शब्दो में ये यम है।[4]

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और आत्मप्रणिधान का आठवें अध्ययन में बडी सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण हुआ है।[5] जैन-दृष्टि भाव-शौच को ही प्रधानता देती है और बाह्य-शौच वही मान्य है, जो भाव-शौच के अनुकूल हो।[6] इसी प्रकार उसे आत्मा और

१—दशवैकालिक, ८।४२।

२—पातंजल योगदर्शन, २।२९

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

३—(क) पातंजल योगदर्शन, १।३४ यशोविजयजी कृत वृत्ति :

अनैकान्तिकमेतत्, प्रसह्य ताभ्यां मनो व्याकुलीभावात 'ऊसासं ण णिरुंभइ' इत्यादि पारमर्षेण तन्निषेधाच्च, इति।

(ख) योगशास्त्र, ६।४ :

तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्य, प्राणायामै कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा, तस्यां स्यात् चित्तविप्लव ॥

(ग) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १५२० वृत्ति .

भगवत्प्रवचने तु व्याकुलताहेतुत्वेन निषिद्ध एव श्वासप्रश्वासरोध प्राणारोध पलिमन्थस्यानतिप्रयोजनत्वात् तदुक्तं—'ऊसासं ण णिरुंभइ'।

४—पातंजल योगदर्शन, २।३०,३१ .

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा।
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।

५—वही, २।३२

शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा।

६—वही, २।३२ यशोविजयजी कृत वृत्ति

भावशौचानुपरोध्येव द्रव्यशौच बाह्यमादेयमिति तत्त्वदर्शिन।

ईश्वर का मौलिक भेद मान्य नही है । आत्मा का विकसित रूप ही परमात्मा है । जो आत्मा का प्रणिधान है, वही ईश्वर-प्रणिधान है ।[१] ध्यान करने के लिए काय-व्युत्सर्ग (शरीर के स्थिरीकरण) को प्रमुखता दी है ।

आसन करना जैन-परम्परा को इष्ट रहा है । पतंजलि जिसे 'प्रत्याहार' कहते है, उसे जैनागम की भाषा मे इन्द्रिय-निग्रह कहा गया है ।[२] धारणा का व्यापक रूप यतना है ।[३] सयम के लिए जो प्रवृत्ति की जाए, उसी में उपयुक्त (तच्चित्त) होना, दूसरे सारे विषयो से मन को हटा कर उसी में लगा देना यतना है ।[४] जैन-साहित्य में समाधि शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है । किन्तु उसका अर्थ पतंजलि के समाधि शब्द से भिन्न है ।[५] उसकी तुलना शुक्ल-ध्यान से होती है । समाधि या ध्यान का चरम रूप शैलेशी अवस्था है ।[६] इस प्रकार प्रस्तुत आगम में योग के बीज छिपे पडे है । आत्म-विकास के लिए इन्हें विकसित करना आवश्यक है । जो श्रमण इस ओर ध्यान नही देता, उसके विशिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है । जो श्रमण बार-बार स्त्री, भक्त, देश और राज-सम्बन्धी कथा करता है, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित नही करता, रात के पहले और पिछले प्रहर में धर्म-जागरिका नही करता और शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा नही करता, उसके विशिष्ट ज्ञान का उदय होते-होते रुक जाता है ।[७] विशिष्ट ज्ञान का लाभ उसे होता है, जो विकथा नही करता, विवेक और व्युत्सर्ग से आत्मा को भावित करता है तथा पूर्व-रात्रि और अपर-रात्रि मे धर्म-जागरण पूर्वक जागता है और शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा करता है ।[८] प्रस्तुत आगम में इस भावना का बहुत ही सूक्ष्मता से निरूपण हुआ है । इसके लिए पाद-टिप्पण में निर्दिष्ट स्थल द्रष्टव्य है ।[९]

१—समाधिशतक, ३१

य परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥

२—दशवैकालिक, ३।११ ।

३—वही, ४।८ ।

४—पातंजल योगदर्शन, ३।१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

५—वही, ३।३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि. ।

६—दशवैकालिक, ४।२४ ।

७—स्थानांग, ४।२।२८४ ।

८—वही, ४।२।२८४ ।

९—दशवैकालिक (भा० २), पाँचवाँ अध्ययन ; ८।१४; तथा चूलिका २।१२ ।

२—साधना के अंग

अहिंसा का दृष्टिकोण :

निर्ग्रन्थ के साधनामय जीवन का प्रारम्भ महाव्रत के स्वीकार से होता है। वे पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अहिंसा शाश्वत धर्म है। भगवान् महावीर ने इसका निरूपण किया, इससे पहले अतीत के तीर्थंकर इसका निरूपण कर चुके थे और भविष्य के तीर्थंकर भी इसका निरूपण करेंगे।[1] संक्षेप में यही महाव्रत है। विस्तार की ओर चलें तो अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रत के ये दो रूप बन जाते है।[2] अहिंसा, सत्य और बहिस्तात्-आदान—यह तीन महाव्रतो का निरूपण है।[3] प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण और बहिस्तात्-आदान-विरमण—यह चातुर्याम धर्म है।[4] अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत है।[5] रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है।[6] जैन आगमो के अनुसार बाईस तीर्थंकरो के समय चातुर्याम धर्म रहा है और पहले (ऋषभदेव) तथा चौबीसवें तीर्थंकर (महावीर) के समय पचमहाव्रतात्मक धर्म रहा।[7] एक, दो और तीन महाव्रतो की परम्परा रही या नही, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु हिंसा और परिग्रह पर स्थानाग[8] आदि में अधिक प्रहार किया गया है, इससे लगता है कि असंयम

१—आचारांग, १।४।१।१२७।

२—सूत्रकृतांग, २।१।

३—आचाराग, १।८।१।१९७ :
जामा तिण्णि उदाहिया।

४—स्थानांग, ४।१।२६६।

५—उत्तराध्ययन, २१।१२।

६—दशवैकालिक, ४।सूत्र १७।

७—उत्तरा'ययन, २३।२३,२४।

८—स्थानांग, २।१।६४।

का मूल इन्ही को माना गया। अहिंसा ही धर्म हैं, शेप महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए है—यह विचार आगम के उत्तरवर्ती-साहित्य मे बहुत दृढता से निरूपित हुआ है।[1]

धर्म का मौलिक रूप सामायिक-चारित्र—समता का आचरण है। इसके अखण्ड रूप को निश्चय-दृष्टि से अहिंसा कहा जा सकता है और व्यवहार-दृष्टि से उसे अनेक भागो में बाँटा जा सकता है। आचाराग के निर्युक्तिकार ने सयम का सामान्यत एक रूप माना है और भेद करते-करते वे उसे अठारह हजार की संख्या तक ले गए हैं।[2] उन्होने निरूपण, विभाजन और जानकारी की दृष्टि मे पाँच महाव्रत की व्यवस्था को सरलतम माना है।[3]

पाँच महाव्रतो को दशवैकालिक की आत्मा मानें तो शेप विषय को उसका पोपक-तत्त्व कहा जा सकता है।

महाव्रतों की भावनाएँ :

पाँच महाव्रतो की सुरक्षा के लिए पचीस भावनाएँ है।[4] नीचे बाई ओर प्रश्न-

---

१–(क) पंचसंग्रह .

एक्कं चिय एक्कवय, निद्दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमण, सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा॥

(ख) हारिभद्रीय अष्टक, १६।५ ·

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥

(ग) हारिभद्रीय अष्टक, १६।५ वृत्ति .

अहिसाशस्यसंरक्षणे वृतिकल्पत्वात सत्यादिव्रतानाम्।

२–आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९३, २९४।

३–वही, गाथा २९५।

४–(क) आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९६ .

तेसि च रक्खणट्ठाय, भावणा पंच पंच इक्किक्के।

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ७।३ ·

तत्स्थैर्यार्थं भावना पंच पंच।

व्याकरण से एव दाहिनी ओर आचाराग से प्रत्येक महाव्रत की भावनाएँ दी जा रही है

१–अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

१—ईर्या-समिति[1]	१—ईर्या समिति
२—अपाप-मन (मन-समिति)[2]	२—मन-परिज्ञा
३—अपाप-वचन[3] (वचन-समिति)	३—वचन-परिज्ञा
४—एषणा-समिति[4]	४—आदान-निक्षेप-समिति
५—आदान-निक्षेप-समिति[5]	५—आलोकित-पान-भोजन

२–सत्य महाव्रत की भावनाएँ

१—अनुवीचि-भाषण	१—अनुवीचि-भाषण[6]
२—क्रोध-प्रत्याख्यान	२—क्रोध-प्रत्याख्यान[7]

१–प्रश्नव्याकरण, सवरद्वार १

ठाणगमणपुणजोगजुंजणजुगंतरणिवाइयाए दीट्ठिएईरियव्व ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।३ ।

२–वही, संवरद्वार १

ण कयावि मणेण पावएण पावगं किंचि वि झायव्व ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।६२ ।

३–वही, संवरद्वार १

वइए पावियाए पावग ण किंचि वि भासियव्व ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५६ ।

४–वही, संवरद्वार १

आहारएसणाए सुद्ध उञ्छ गवेसियव्व—अहिंसए सजए सुसाहू ।

मिलाइए—पाँचवाँ अध्ययन (विशेषत भोगैषणा का प्रकरण) ।

५–वही, सवरद्वार १

अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खियव्व य गिण्हियव्वं ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।८५,८६ ।

६–आचाराग, ११३।१५

अणुवीइभासी से निग्गये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५५ ।

७–वही, ११३।१५

कोहं परियाणइ से निग्गंये ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

३—लोभ-प्रत्याख्यान	३—लोभ-प्रत्याख्यान[1]
४—अभय (भय-प्रत्याख्यान)	४—अभय[2]
५—हास्य-प्रत्याख्यान	५—हास्य-प्रत्याख्यान[3]

३—अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

१—विविक्तवास-वसति[4]	१—अनुवीचि-मितावग्रह-याचन
२—अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन[5]	२—अनुज्ञापित-पान-भोजन
३—शय्या-समिति[6]	३—अवग्रह का अवधारण

१—आचारांग, २।३।१५

लोभं परियाणइ से निग्गंथे ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

२—वही, २।३।१५ :

नो भयभीरुए सिया ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

३—वही, २।३।१५ :

हासं परियाणइ से निग्गंथे ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ७।५४ ।

४—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३ :

अंतो वहि च असंजमो जत्थ वड्ढती संजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे । एवं विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२ ।

५—वही, संवरद्वार ३ :

जे हणि हणि उग्गहं अणुन्नविवय गिण्हियव्व ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ६।१३,८।५ ।

६—वही, संवरद्वार ३

पीढफलगसेज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खो न छिंदियव्वो न छेदणेण भेयणेण सेज्जा कारेयव्वा जस्सेव उवस्सते वसेज्ज सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, न य विसमं समं करेज्जा ।

मिलाइए—दशवैकालिक ८।५१ ।

४—साधारण-पिंड-पात्र लाभ[1]	४—अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
५—विनय-प्रयोग[2]	५—साधार्मिक के पास से अवग्रह-याचन

४—ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

१—अससक्त-वास-वसति[3]	१—स्त्रियों में कथा का वर्जन
२—स्त्री-जन में कथा-वर्जन[4]	२—स्त्रियों के अग-प्रत्यंगो के अवलोकन का वर्जन
३—स्त्रियो के अग-प्रत्यग और चेष्टाओ के अवलोकन का वर्जन[5]	३—पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन

१—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३

साहारणपिण्डपातलाभे भोत्तव्वं संजएण समियं न सायसूपाहिकं, न खद्ध न वेगित, न तुरियं, न चवलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकर सावज्जं तह भोत्तव्वं जह से ततियवयं न सीदति ।

मिलाइए—दशवैकालिक, अध्ययन ५ ।

२—वही, सवरद्वार ३

साहम्मिए विणओ पउंजियव्वो, उवकरण पारणासु विणयो पउंजियव्वो दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियव्वो, विणओवि तवो तवोविधम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो, गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य, विणवो पउंजियव्वो ।

मिलाइए—दशवैकालिक, अध्ययन ९ ।

३—वही, सवरद्वार ४

इत्थिसंसत्तसंकिलिट्ठा अण्णे वि य उवमाइ अवगासा ते हु वज्जणिज्जा ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२ ।

४—वही, संवरद्वार ४

णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५२ ।

५—वही, सवरद्वार ४

णारीणं हसिय भणिय ण चक्खुसा ण मणसा वयसा पत्थेयव्वाइं ।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५३,५४,५७ ।

४—पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन[1]	४—अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
५—प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन[2]	५—स्त्री आदि से ससक्त शय्यासन का वर्जन[3]

५—अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

१—मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव	१—मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
२— ,, ,, ,, रूप ,, ,,	२— ,, ,, ,, रूप ,, ,,
३— ,, ,, ,, गन्ध ,, ,,	३— ,, ,, ,, गन्ध ,, ,,
४— ,, ,, ,, रस ,, ,,	४— ,, ,, ,, रस ,, ,,
५— ,, ,, ,, स्पर्श ,, ,,	५— ,, ,, ,, स्पर्श ,, ,,

भावनाओ की पूरी शब्दावलि की दशवैकालिक के साथ तुलना की जाए तो इसका बहुत बडा भाग महाव्रतो की तुलना करते दिखाई देगा। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि दशवैकालिक पाँच महाव्रत और उनकी पचीस भावनाओ की व्याख्या है।

संयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण :

शिष्य ने पूछा—"भगवन्! यह लोक छह प्रकार के जीव-निकायो से लबालब भरा हुआ है फिर अहिंसा पूर्वक शरीर धारण कैसे हो सकता है? उसके लिए जाना, खडा होना, बैठना, खाना और बोलना—ये आवश्यक हैं। ये किए जाएँ तो हिंसा होती है, इस स्थिति में श्रमण क्या करे? वह कैसे चले, खडा रहे, बैठे, सोए, खाए और बोले? यह प्रश्न अहिंसा और जीवन-व्यवहार के सघर्ष का है। समग्र दशवैकालिक मे इसी का समाधान है। सक्षेप में शिष्य को बताया गया कि यतनापूर्वक चलने, खडा रहने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाला अहिंसक रह सकता है। यतना कैसे की जाए इसकी व्याख्या ही दशवैकालिक का विस्तार है। यह सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति के संयम का दृष्टिकोण है। आत्मस्थ होने के लिए निवृत्ति, उसकी प्राप्ति में आने

१-प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ४.

पुव्वरय पुव्वकीलिय विरइ समिइ जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा।

२-वही, सवरद्वार ४ :

आहारपणीयसिद्धभोयणविवज्जए।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

३-आचारांग, २।३।१५।

वाली बाधाओ को पार करने और केवल उसी के निमित्त शरीर-धारण करने के लिए सत्प्रवृत्ति आवश्यक है—यह जैन दर्शन का धार्मिक दृष्टिकोण है। इसके अनुसार हिंसा मात्र, भले फिर वह प्रयोजनवश की जाए या निष्प्रयोजन ही - असत्प्रवृत्ति है। धार्मिक दृष्टिकोण से वह सर्वथा अमान्य है। इसीलिए साधना की विशेष भूमिका मे निवृत्ति और सत्प्रवृत्ति ही मान्य हुई है। सत्प्रवृत्ति के द्वारा निवृत्ति के चरम शिखर पर पहुँचने के लिए शरीर-धारण आवश्यक है, इसलिए सत्प्रवृत्तिमय (सयममय) शरीर-धारण के लिए भी इसमें पर्याप्त विधि-निषेध किए गए है।

प्रवचन-गौरव का दृष्टिकोण :

भगवान् महावीर ने केवली होने के अनन्तर तीर्थ का प्रवतन किया। उसके चार अग बनें—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। वैयक्तिक साधना में लोक-व्यवहार की दृष्टि से विचार करना आवश्यक नही होता। सघ की स्थिति इससे भिन्न होती है। वहाँ लोक-दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा नही होती। इसलिए धर्म-विरुद्ध आचरण की भाँति लोक-विरुद्ध आचरण भी किसी सीमा तक निषिद्ध माना गया है।[1] प्रतिक्रुष्ट कुल मे भिक्षा लेने के निषेध का कारण सघ की लघुता न हो, यही है।[2]

इस प्रकार के और भी अनेक नियम है, जिनके निर्माण का मूल लोक-दृष्टि की सापेक्षता है। जहाँ तक साधना की मौलिकता का प्रश्न है, वहाँ लोक दृष्टि को महत्त्व नही दिया जा सकता किन्तु जहाँ सत्य की घात नही हो, वहाँ लोकमत की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। आगम-काल से लेकर व्याख्या-काल तक जैन-परम्परा का यह स्पष्ट अभिमत रहा है।

१—प्रशमरति प्रकरण १३१,१३२ :

लोक खल्वाधार सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्।
तस्माल्लोकविरुद्ध धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्॥
देहो न साधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य।
सद्धर्मानुपरोधात तस्माल्लोकोऽभिगमनीय॥
मिलाइए — दशवैकालिक, ५।१।१८।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र १६६

प्रतिक्रुष्टकुल द्विविधम्-इत्वर यावत्कथिकं च। इत्वर—सूतकयुक्तं, यावत्कथिकम्—अभोज्यम्। एतन्न प्रविशेत शासनलघुत्वप्रसगात्।

परीषह-सहन का दृष्टिकोण :

साधना के क्षेत्र में काय-क्लेश बहुत ही विवादास्पद रहा है। कहीं इसका ऐकान्तिक समर्थन मिलता है, कही इसके संयत-प्रयोग का समर्थन मिलता है तो कहीं इसका अनावश्यक विरोध भी मिलता है। भागवत और मनुस्मृति में वानप्रस्थ और सन्यासी के लिए जिस आचार का विधान किया है, उसमें जितना आग्रह कोरे कष्ट-सहन का है, उतना अहिंसा का नही है। वानप्रस्थ की ऋतुचर्या का उल्लेख करते हुए कहा गया है—"वह ग्रीष्म-ऋतु में पंचाग्नि तपे, वर्षा ऋतु में खुले मैदान मे रह कर वर्षा की बौछार सहे, जाडे के दिनो मे गले तक जल में डूबा रहे। इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे।"[1] जैन-परम्परा अहिंसा-प्रधान रही, इसलिए वहाँ श्रमण की ऋतुचर्या का इन शब्दो में वर्णन किया गया है—"सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते है, हेमन्त में खुले वदन रहते है और वर्षा में प्रतिसंलीन—एक स्थान मे रहने वाले होते है।"[2] जैन-परम्परा ने सुखवाद का खण्डन किया और अहिंसा का आग्रह रखते हुए यथाशक्ति कष्ट-सहन का समर्थन किया। "सुख से सुख मिलता है"—इस मान्यता के अनुसार चलने वाले अहिंसा का आग्रह नही रख सकते। वे थोडी-सी वाधा होने पर कतरा जाते है।[3] 'आत्म-हित दुःख मे मिलता है'[4] इसका तात्पर्य यह नही कि कष्ट-सहन मे आत्म-हित होता है, किन्तु यहाँ वताया गया है कि आत्म-हित कष्ट-साध्य है। कष्ट-सहन आत्म-हित का एक साधन है और इसलिए कि अहिंसा की साधना करने वाला कष्ट आ पडने पर उसमे विचलित न हो जाए।[5] अत कहा गया है कि परीषह मे

१—(क) भागवत, ११।१८।४

ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन्, वर्षास्वासारषाड् जले।
आकण्ठमग्न शिशिरे, एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥

(ख) मनुस्मृति, ६।२३ .

ग्रीष्मे पचाग्नितापः स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिक ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तप ॥

२—दशवैकालिक, ३।१२।

३—सूत्रकृतांग, १।३।४।६-८

इहमेगे उ भासति मेहुणे य परिग्गहे।

४—वही, १।२।२।३०

अत्तहिय खु दुहेण लब्भइ।

५—वही, १।२।१।१४ :

अविहिंसामेवपव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥

स्पृष्ट होने पर मुनि उनसे पराजित न हो—अनाचार का सेवन न करे।[1] साधना मे चलते-चलते जो कष्ट आ पड़ते है, उन्हें सम्यक्-भाव से सहन करने वाले को निर्जरा (कर्मक्षय) होती है।[2]

मास और रक्त के उपचय से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।[3] इसलिए कहा है कि अनशन के द्वारा शरीर को कृश करो।[4] शरीर के प्रति जिनका अत्यन्त वैराग्य हो जाता है, जो पौद्गलिक पदार्थो को आत्मा मे सर्वथा पृथक् करने के लिए चल पड़ते है, वे तपस्वी विशुद्ध तपस्या के द्वारा सचित कर्म-मल को धो डालते हैं।[5]

कष्ट-सहन जैन-परम्परा का लक्ष्य नही रहा है। वह केवल साधन रूप से स्वीकृत है।[6] जैन-परम्परा में तप का अर्थ कोरा कष्ट-सहन करना नही है। आत्म-शुद्धि के दो साधन है—संवर और तप। संवर के द्वारा आगामी कर्म का निरोध और तप के द्वारा पूर्व-सचित कर्म का क्षय होता है।[7] भगवान् महावीर ने कर्म-क्षय के समस्त साधनो को तप कहा है और उन्हें बाह्य और आभ्यन्तर—इन दो भागो में बाँटा है। देह को अधिक कष्ट देने से अधिक कर्म-क्षय होता है—ऐसा अभिमत नही है।

१–उत्तराध्ययन, २।४६.

(क) एए परिसहा सव्वे, कासवेण पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई॥

(ख) सूत्रकृतांग, १।२।१।१३
से पुट्ठे अहियासए।

२–स्थानांग, ५।१।४०९
सम्मं सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स कि मन्ने कज्जति? एगंतसो मे णिज्जरा कज्जति।

३–स्थानाग, ४।४।३५६।

४–सूत्रकृतांग, १।२।१।१४ वृत्ति
किसए देहमणासणाइहिं—अनशनादिभिर्देह 'कर्शयेत्'—अपचितमांसशोणितं विदध्यात्।

५–सूत्रकृतांग, १।२।१।१५।

६–जसट्ठाए कीरति नग्गभावे अतं करेंति।

७–उत्तराध्ययन, ३०।१-६।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! (१) महावेदना और महानिर्जरा, (२) महावेदना और अल्पनिर्जरा, (३) अल्पवेदना और महानिर्जरा, (४) अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा—क्या ये विकल्प हो सकते है ?"

भगवान् ने कहा— 'हाँ गौतम ! हो सकते है ।"[1]

यहाँ दो विकल्प—दूसरा और तीसरा—ध्यान देने योग्य है ।

भगवान् ने अनशन, काय-क्लेश आदि को बाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान आदि को आभ्यन्तर-तप कहा है ।[2] वे आत्मिक पवित्रता के लिए जैसे आभ्यन्तर-तप को आवश्यक मानते थे, वैसे ही इन्द्रिय और मन को समाहित रखने के लिए बाह्य-तप को भी आवश्यक मानते थे ।

भगवान् ने छह कारणो से आहार करने की अनुमति दी, वैसे ही छह कारणो से आहार न करने की आज्ञा दी ।[3]

इस विचारधारा मे संयत काय-क्लेश और ध्यान दोनो का समन्वय है, इसलिए यह तप और ध्यान के ऐकान्तिक आग्रह के बीच का मार्ग है—मध्यम मार्ग है ।[4]

भगवान् ने अहिंसा का विवेक किये बिना तप तपने वालो को इहलोक-प्रत्यनीक (वर्तमान जीवन का शत्रु) कहा है ।[5]

१—भगवती, ६।१ ।

२—उत्तराध्ययन, ३०।७,८,३० ।

३—वही, २६।३१-३४ :

छण्हं अन्नयरागंमि कारणंमि समुट्ठिए ॥
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥
निग्गंथो धिइमन्तो निग्गंथी वि न करेज्ज छहि चेव ।
ठाणेहि तु इमेहिं अणइक्कमणा य से होइ ॥
आयके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

४—दशवैकालिक, ८।६२ :

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो अपावभावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

५—भगवती, ८।८ वृत्ति

इहलोगपडिणीए—इह लोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात पंचाग्नितपस्विवदिह लोकप्रत्यनीक ।

भगवान् की दृष्टि में बाह्य-तप की अपेक्षा मानसिक आर्जव अधिक महत्त्वपूर्ण था। उन्होने कहा—"कोई तपस्वी नग्न रहता है, शरीर को कृश करता है और एक महीने के बाद भोजन करता है किन्तु मायाचार को नही त्यागता, वह अन्त-काल तक ससार से मुक्ति नही पाता।"[१]

भगवान् ने चमत्कार-प्रदर्शन और पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से किए जाने वाले तप का विरोध किया। उनका यह आग्रह था कि तप केवल आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से ही किया जाय।[२]

"निर्ग्रन्थ का आचार भीम है, अन्यत्र ऐसे परम दुश्चर आचार का प्रतिपादन नही है"[३]—यह जो कहा है, उसके पीछे कठोर चर्या की दृष्टि नही है। इसे अहिंसा की सूक्ष्म-दृष्टि से परम दुश्चर कहा है। समूचा छठा अध्ययन इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाला है। सूत्रकृनाग (१।११।५) में अहिंसात्मक मार्ग को महाघोर कहा है।

गीता में श्रद्धापूर्वक, फल की आकाक्षा से रहित किए गए तप को सात्विक, सत्कार आदि के उद्देश्य और दम्भ से किए गए तप को राजस तथा दूसरे का विनाश करने के लिए अविवेकपूर्ण निश्चय से शरीर को पीडा पहुँचाकर किए गए तप को तामस कहा है।[४]

महात्मा गौतम बुद्ध ने काय-क्लेश को अनावश्यक बतलाया। उन्होंने कहा—"साधु को यह दो अतियाँ सेवन नही करनी चाहिए। कौनसी दो ? (१) जो यह हीन, ग्राम्य, अनाडी मनुष्यो के (योग्य), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त, कामवासनाओ में लिप्त होना है, और, (२) जो दुःख (-मय), अनार्य (-सेवित) अनर्थों से युक्त आत्म-पीडा में लगना है। भिक्षुओ! इन दोनों ही अतियो में न जाकर, तथागत ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जोकि) आँख-देनेवाला, ज्ञान-करानेवाला, शान्ति के लिए, अभिज्ञा के लिए, परिपूर्ण-ज्ञान के लिए और निर्वाण के लिए है।"[५]

१—सूत्रकृतांग, १।२।१।९।

२—दशवैकालिक, ९।४। सू० ६।

३—वही, ६।४।

४—गीता, १७।१७-१९

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविध नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तै सात्त्विक परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तप।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

५—विनय-पिटक, पृष्ठ ८०-८१।

महात्मा बुद्ध ने काय-क्लेश का विरोध किया पर वह मात्रा-भेद से साधना के क्षेत्र में आवश्यक होता है, इसलिए उसका पूर्ण बहिष्कार भी नही कर सके। काश्यप के प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा—"काश्यप! जो लोग ऐसा कहते हैं—'श्रमण गौतम सभी तपश्चरणो की निन्दा करता है, सभी तपश्चरणों की कठोरता को बिल्कुल बुरा बतलाता है'—ऐसा कहने वाले मेरे बारे में ठीक से कहने वाले नहीं है, मेरी झूठी निन्दा करते हैं। काश्यप! मैं विशुद्ध और अलौकिक दिव्य-चक्षु से किन्ही-किन्हीं कठोर जीवन वाले तपस्वियो को काया छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप! मैं किन्ही-किन्ही कठोर जीवन वाले तपस्वियो को मरने के बाद स्वर्गलोक मे उत्पन्न और सुगति को प्राप्त देखता हूँ। किन्ही-किन्हीं कम कठोर जीवन वाले तपस्वियो को मरने के बाद नरक में उत्पन्न और दुर्गति को प्राप्त देखता हूँ। काश्यप! किन्ही-किन्ही कम कठोर जीवन वाले तपस्वियों को मरने के बाद स्वर्गलोक में उत्पन्न सुगति को प्राप्त देखता हूँ।

"जब मैं काश्यप! इन तपस्वियों की इस प्रकार की अगति, गति, च्युति (=मृत्यु) और उत्पत्ति को ठीक से जानता हूँ फिर मैं कैसे सब तपश्चरणो की निन्दा करूंगा? सभी कठोर जीवन वाले तपस्वियो की बिल्कुल निन्दा, शिकायत करूंगा?"[१]

साध्य की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने जो सम्यक् व्यायाम का निरूपण किया है, वह कठोर चर्या का ज्वलंत रूप है।

"और भिक्षुओ, अनुरक्षण-प्रयत्न क्या है? एक भिक्षु प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काबू में रखता है कि जो अच्छी बातें उस (के चरित्र) में आ गई है वे नष्ट न हों, उत्तरोत्तर बढ़ें, विपुलता को प्राप्त हो। वह समाधि निमित्तो की रक्षा करता है। भिक्षुओ, इसे अनुरक्षण-प्रयत्न कहते हैं।

"(वह सोचता है)— चाहे मेरा मास-रक्त सब सूख जाये और बाकी रह जायें केवल त्वक्, नसें और हड्डियाँ, जब तक उसे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से पराक्रम से प्राप्य है, प्राप्त नही कर लूँगा, तब तक चैन नही लूँगा। भिक्षुओ, इसे सम्यक्-प्रयत्न (व्यायाम) कहते है।"[२]

परीषह-सहन का जो दृष्टिकोण भगवान् महावीर का रहा है, उसे महात्मा बुद्ध ने स्वीकार नही किया, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा है

१—दीघ-निकाय, पृष्ठ ६१।

२—बुद्ध-वचन, पृष्ठ ३७।

"भिक्षुओ, जिमने कायानुस्मृति का अभ्यास किया है, उसे वढाया है, उस भिक्षु को दस लाभ होने चाहिऐं। कौन मे दस ?

१—वह अरति-रति-सह (=उदासी के सामने डटा रहने वाला) होता है। उसे उदासी परास्त नहीं कर सकती। वह उत्पन्न उदासी को परास्त कर विहरता है।

२—वह भय-भैरव-सह होता है। उसे भय-भैरव परास्त नही कर सकता। वह उत्पन्न भय-भैरव को परास्त कर विहरता है।

३—शीत, उष्ण, भूख-प्यास, डक मारने वाले जीव, मच्छर, हवा, धूप, रेंगनेवाले जीवों के आघात, दुरुक्त, दुरागत वचनो, तथा दु खदायी, तीव्र, कटु, प्रतिकूल, अरुचिकर, प्राण-हर शारीरिक पीडाओ को सह सकने वाला होता है।"[1]

भगवान् महावीर अज्ञान-कष्ट का विरोध और संयम-पूर्वक कष्ट-सहन का समर्थन करते हैं। इन दोनो के पीछे हिंसा और अहिंसा की दृष्टियाँ है, इसलिए इनमें कोई असगति नही है। महात्मा बुद्ध भी कष्ट-सहन का विरोध और समर्थन दोनो करते है किन्तु उनके पीछे हिंसा और अहिंसा के स्थिर दृष्टिकोण नही है, इसलिए उनके विरोध और समर्थन का आधारभूत कारण नहीं मिलता। दीघनिकाय (पृ०६२-६३) में जिन नियमों को झूठा शारीरिक तप कहा गया है, उनमें वहुत कुछ ऐसे नियम हैं जिनका निर्माण अहिंसा और अपरिग्रह के सूक्ष्म चिन्तन के वाद हुआ है। नग्न रहना, वुलाई भिक्षा का का त्याग[2], अपने लिए लाई भिक्षा का त्याग[3], अपने लिए पकाए भोजन का त्याग[4] निमत्रण का त्याग, दो भोजन करने वालो के वीच से लाई भिक्षा का त्याग[5], गर्भिणी स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग[6], दूध पिलाती स्त्री द्वारा लाई भिक्षा का त्याग[7], वहाँ से भी नहीं (लेना) जहाँ कोई कुत्ता खडा हो[8], न मास, न मछली,[9] न सुरा[10], न कच्ची

१—बुद्ध-वचन, पृष्ठ ४१।
२—मिलाइए—दशवैकालिक, ६।४८,४९।
३— ,, वही, ६।४९।
४— ,, ,, ६।४८,४९।
५— ,, ,, ५।१।३७।
६— ,, ,, ५।१।३९,४०,४१।
७— ,, ,, ५।१।४२,४३।
८— ,, ,, ५।१।१२,२२।
९— ,, ,, चूलिका २।७।
१०— ,, ,, ५।२।३६।

शराव, न चावल की शराव (=तुषोदक) ग्रहण करता है। वह एक ही घर से जो भिक्षा मिलती है लेकर लौट जाता, एक ही कौर खाने वाला होता है, दो घर से जो भिक्षा०, दो ही कौर खाने वाला, सात घर ० सात कौर ०। वह एक ही कलछी खाकर रहता है, दो०, सात०। वह एक-एक दिन बीच दे करके भोजन करता है, दो दो दिन०, सात सात दिन०। इस तरह वह आधे-आधे महीने पर भोजन करते हुए विहार करता है।[1]

जैन-परम्परा में ये नियम अहिंसा व अपरिग्रह की सूक्ष्म दृष्टि से ही स्वीकृत है।

तीसरे अध्ययन में कुछ शारीरिक परिकर्मों को अनाचार कहा है। उसके पीछे भी अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और देहासक्ति के दृष्टिकोण है। ये उस समय की सभी श्रमण और ब्राह्मण परम्पराओं में न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकृत रहे है।

स्नान महात्मा बुद्ध ने आध-मास से पहले नहाने वाले भिक्षु को प्रायश्चित्त का भागी कहा है। "जो कोई भिक्षु सिवाय विशेष अवस्था के आध-मास से पहले नहाये तो पाचित्तिय है। विशेष अवस्था यह है—ग्रीष्म के पीछे के डेढ मास और वर्षा का प्रथम मास, यह ढाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (=लीपने-पोतने आदि का समय), रास्ता चलने के समय तथा आँधी-पानी का समय।"[2]

भगवान् महावीर ने संघ की आचार-व्यवस्था को नियंत्रित किया, महात्मा बुद्ध ने वैसा नही किया। फलस्वरूप संघ के भिक्षु मनचाहा करते और लोगो में उनका अपवाद होता तब बुद्ध को भाँति-भाँति के नियम बनाने पडते। स्नान के सम्बन्ध में ऐसे कई नियम हैं।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह में विहार करते थे। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते हुए वृक्ष से शरीर को रगडते थे, जंघा को, वाहु को, छाती को, पेट को भी। लोग खिन्न होते, धिक्कारते थे—'कैसे यह शाक्य-पुत्रीय श्रमण नहाते हुए वृक्ष से ०, जैसे कि मल्ल (=पहलवान) और मालिश करने वाले'। ..। भगवान् ने भिक्षुओ को संबोधित किया—"भिक्षुओ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर न रगडना चाहिए, जो रगडे उसको 'दुष्कृत' की आपत्ति है।"

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगड़ते थे०। बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगडना चाहिए, जो रगडे उसको दुक्कट (दुष्कृत) की आपत्ति है।"[4]

१—दीघ-निकाय, पृष्ठ ६२-६३।

२—विनय-पिटक, पृष्ठ २७।

३,४—वही, पृष्ठ ४१८।

छाता, जूता जो भिक्षुणी नीरोग होते हुए छाते जूते को धारण करे, उसे बुद्ध ने पाचित्तिय कहा है।[1] जूते, खडाऊँ और पादुकाओं के विविध विधि-निषेधो के लिए विनय-पिटक (पृष्ठ २०४-२०८) द्रष्टव्य है।

भगवान् महावीर ने सामान्यत जूते पहनने का निषेध किया और स्थविर के लिए चर्म के प्रयोग की अनुमति दी, वैसे ही महात्मा बुद्ध जूता पहने गाँव में जाने का निषेध और विधान दोनो करते हैं।

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु जूता पहने गाँव में प्रवेश करते थे। लोग हैरान होते थे(०) जैसे काम-भोगी गृहस्थ। बुद्ध ने यह बात कही—"भिक्षुओ! जूता पहने गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जो प्रवेश करे, उसे दुक्कट का दोष हो।"[2]

उस समय एक भिक्षु बीमार था और वह जूता पहने विना गाँव में प्रवेश करने में असमर्थ था। बुद्ध ने यह बात कही—"भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ बीमार भिक्षु को जूता पहन कर गाँव में प्रवेश करने की।"[3]

जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी छाते का निषेध और विधान—दोनो मिलते हैं।[4]

गन्ध, माल्य आदि महात्मा बुद्ध माला, गध, विलेपन, उबटन तथा सजने-धजने से विरत रहते थे।[5]

स्मृतिकार, पुराणकार और धर्मसूत्रकार ब्रह्मचारी के लिए गंध, माल्य, उबटन, अजन, जूते और छत्र-धारण का निषेध करते हैं।[6]

भागवत में वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का निषेध किया गया है।[7]

१—विनय-पिटक, पृष्ठ ५७।

२,३—वही, पृष्ठ २११।

४—वही, पृष्ठ ४३८।

५—दीघ-निकाय, पृष्ठ ३।

६—(क) मनुस्मृति, २।१७७-१७९।

(ख) भागवत, ७।१२।१२.

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥

७—भागवत, ११।१८।३ :

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयादत।
न धावेदप्सु मज्जेत, त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥

इस प्रकार हम देखते है कि श्रमण या सन्यासी के लिए कष्ट-सहन और शरीर-परिकर्म के त्याग की पद्धति लगभग सभी परम्पराओ में रही है। ब्राह्मण-परम्परा ने शारारिक शुद्धि को प्रमुख स्थान दिया है। जैन-परम्परा ने उसे प्रमुखता नही दी। अहिंसा और देह-निर्ममत्व की दृष्टि से शरीर-शुद्धि को प्रमुखता न देना कोई बुरी वात नहीं है। साधना की भूमिका का विकास शरीर-शुद्धि से नही किन्तु चारित्रिक निर्मलता से होता है। अणु आभा वैज्ञानिक डॉ० जे०सी० ट्रस्ट ने इस विषय का बडे वैज्ञानिक ढग से स्पर्श किया है। वे लिखती है—"कई बार मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि अनेक अशिक्षित लोगो के अणुओ में प्रकाश-रसायन विद्यमान थे। साधारणत लोग उन्ही को सच्चरित्र तथा धर्मात्मा मानते है, जो ऊँचे घरानो में जन्म लेते हैं, गरीवो में घन आदि वाँटते है तथा प्रात-सायं उपासनादि नित्य-कर्म करते है परन्तु मुझे वहुत से ऐसे लोग मिले है जो देखने पर वडे धर्मात्मा और स्वच्छ वस्त्रधारी थे परन्तु उनके अन्दर काले अणुओं का वाहुल्य था। इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ, गँवार तथा वाह्य रूप से भद्दे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले, जिन्हें किसी प्रकार कुलीन नही कहा जा सकता। परन्तु उस समय मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नही रही जब मैंने उनके प्रकाशाणुओ की थरथरियो को उनकी आभा में स्पष्ट रूप से देखा। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओं का विकास कई वर्ष के सतत परिश्रम और इन्द्रियो के अणुओं के नियंत्रण के पश्चात् हो पाता है, परन्तु इन लोगो ने अनजाने ही प्रकाशाणुओ को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने कभी स्वप्न में भी प्रकाशाणुओ के विकास के विषयो में न सोचा होगा। उपर्युक्त घटनाओं के वर्णन से मैं आपको यह वताना चाहती हूँ कि यह आवश्यक नही कि शिक्षित तथा कुलीन प्रतीत होने वाले लोग धर्मात्मा हो और अशिक्षित तथा निर्धन और वाह्य रूप मे अस्वच्छ रहने वाले पापी। वास्तव में प्रकाश का सम्वन्ध शरीर से नही अपितु आत्मा से है, अत प्रकाश की प्राप्ति के लिए शरीर की शुद्धि की इतनी आवश्यकता नही, जितनी आत्मा की निर्मलता की। वाह्य शरीर तो आत्मा के निवास के लिए भवन के समान है।"[1]

आयुर्वेद मे स्वस्थ वृत्त के जो आवश्यक कृत्य वताए है, उन्हें आगमकार श्रमण के लिए अनाचार कहते हैं। यहाँ सहज प्रश्न उठता है कि स्वास्थ्य श्रमण के लिए भी अपेक्षित है फिर आगमकार ने इन्हें अनाचार क्यो माना? यह ठीक है कि स्वास्थ्य से श्रमण मुक्त नहीं है किन्तु उसका मुख्य लक्ष्य है—आत्म-रक्षा। "अप्पाहु खलु सयय रक्खियव्वो, सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं"—श्रमण सव इन्द्रियो को विषयो मे निवृत्त कर

१–अणु और आभा, पृष्ठ १६०-१६१।

आत्मा की रक्षा करे। आगमकार के सामने आत्म-रक्षा की दृष्टि मुख्य थी। जबकि आयुर्वेद के सम्मुख देह-रक्षा का प्रश्न प्रमुख था, इसीलिए वहाँ कहा गया है कि—

नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी, कृत्येष्ववहितो भवेत्॥[1]

—नगर रक्षक नगर के तथा गाडीवान् गाडी के कार्यो में (उसकी रक्षा के लिए) सदा सावधान रहता है, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्यो को चाहिए कि वे सदा अपने शरीर के कृत्यो में सावधान रहें।

चरक के अनुसार स्वास्थ्य-रक्षा के लिए किए जाने वाले स्वस्थवृत्त के आवश्यक कृत्य ये है

सौवीराजन—काला सुरमा आजना।
नस्य कर्म—नाक में तेल डालना।
दन्त पवन—दतौन करना।
जिह्वानिर्लेखन—शलाका से जीभ के मैल को खुरचकर निकालना।
अभ्यंग—तेल का मर्दन करना।
शरीर-परिमार्जन—कपडे या स्पञ्ज आदि द्वारा मैल उतारने के लिए रगडना अथवा उबटन लगाना, स्नान करना।
गन्धमाल्य-निषेवण—चन्दन, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यो का अनुलेपन करना तथा सुगन्धित पुष्पों की मालाओ को धारण करना।
रत्नाभरण धारण—रत्न-जटित आभूषण धारण करना।
शौचाधान—पैर तथा मलमार्गो (नाक, कान, गुदा, उपस्थ आदि) को प्रतिदिन बार-बार धोना।
सम्प्रसाधन—केश आदि कटवाना तथा कघी करना।
धूम्रपान—धूम्रपान करना।
पादत्र-धारण—जूते धारण करना।
छत्र-धारण—छत्ता धारण करना।
दण्ड-धारण—दण्ड (छडी) धारण करना।

इनमें से अधिकाश का अनाचार प्रकरण में और कुछेक का अन्यत्र निषेध मिलता है। इसका कारण है—आत्म-रक्षा। इन्द्रियो की समाधि और ब्रह्मचर्य के बिना आत्म-रक्षा हो नही पाती। उपर्युक्त कृत्य ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-समाधि में बाधक बनते हैं। स्वयं आयुर्वेद के ग्रन्थ-निर्माताओं की दृष्टि में भी ये वृष्य (वीर्यवर्धक), पुस्त्व-

---

१—चरक, सूत्र-स्थान, अध्ययन ५।१००।

वर्धक और कामाग्नि-सन्दीपक हैं। स्नान को चरक संहिता में वृष्य कहा है।[1]—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं, श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीर-बलसन्धानं, स्नानमोजस्करं परम्॥

इसकी व्याख्या मे सुश्रुत का श्लोक उद्धृत है, उसमें इसे पुंस्त्व-वर्द्धन कहा है—

तन्द्रापापोपशमनं, तुष्टिदं पुंस्त्ववर्द्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि, स्नानमग्नेश्च दीपनम्॥

उसी प्रकरण में तन्त्रान्तर का श्लोक भी उद्धृत है। उसमें स्नान को कामाग्नि-सन्दीपन कहा है।

प्रातः स्नानमलं च पापहरणं दुःस्वप्नविध्वंसनं,
शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसाम्।
रूपद्योतकरं शरीरसुखदं कामाग्निसंदीपनं,
स्त्रीणां मन्मथगाहनं श्रमहरं स्नाने दशैते गुणाः॥

चरक संहिता के सूत्र-स्थान में गन्ध-माल्य-निषेवण (५।९३), संप्रसाधन (५।९६) और पादत्र-धारण (५।९७) को भी वृष्य कहा गया है।

इसी तरह और भी शरीर की सार-संभाल के लिए किए जाने वाले कृत्य ब्रह्मचर्य में साधक नही बनते, इसलिए भगवान् महावीर ने इन्हें भी अनाचार माना है।

परीषह-सहन की दृष्टि से भगवान् महावीर ने जो आचार-व्यवस्था स्वीकृत की, वह निर्ग्रन्थ-परम्परा में उनसे पहले भी रही है। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति से पहले की अपनी कठोर-चर्या का जो वर्णन किया है[2], उसकी तुलना प्रस्तुत आगम के तीसरे अध्ययन में वर्णित आचार-व्यवस्था से होती है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध ने भ० पार्श्वनाथ की परम्परा स्वीकार की थी।[3] इससे यह सहज हो जाना जा सकता है कि भावी तीर्थङ्करो की आचार-व्यवस्था में भी परीषह-सहन का स्थान होगा। इसका निरूपण भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन में किया है। भगवान् ने कहा—

"अज्जो! यह मगधाधिपति श्रेणिक पहले नरक से निकल कर जब महापद्म नामक पहले तीर्थङ्कर होंगे, तब वे मेरे समान ही आचार-धर्म का निरूपण करेंगे।

"अज्जो! जैसे मैंने छह जीव-निकाय का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी छह जीव-निकाय का निरूपण करेंगे।

१—चरक, सूत्र-स्थान, अध्ययन ५।९२।

२—मज्झिम-निकाय, महासीहनादसुत्त, पृष्ठ ४८-५२।

३—पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृष्ठ २४-२६।

"अज्जो ! जैसे मैंने पाँच महाव्रतों का निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी पाँच महाव्रतो का निरूपण करेंगे।

"अज्जो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थो के लिए नग्नभाव, मुण्ड-भाव, अस्नान—स्नान न करना, अदन्तवण—दतौन आदि न करना, अछत्र—छत्र धारण न करना, अनुपानत्क—जूते न पहनना, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठ-शय्या, केश-लोच, ब्रह्मचर्य-वास, पर-गृह-प्रवेश, आदर या अनादर पूर्वक लब्ध भिक्षा का ग्रहण—इनका निरूपण किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका निरूपण करेंगे।

"अज्जो ! जैसे मैंने आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतर, क्रीत, प्रामित्य, आछेद्य, अनिसृष्ट, अभिहृत, कान्तार-भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, ग्लान-भक्त, वार्द्‌लिका-भक्त, प्राघूर्ण-भक्त, मूल-भोजन, कन्द-भोजन, फल-भोजन, बीज-भोजन, हरित-भोजन—इनका प्रतिषेध किया है, वैसे ही महापद्म भी आधाकर्मिक यावत् हरित-भोजन का प्रतिषेध करेंगे।

"अज्जो ! जैसे मैंने शय्या-पिण्ड और राज-पिण्ड का प्रतिषेध किया है, वैसे ही महापद्म भी इनका प्रतिषेध करेंगे।"[1]

सूत्रकृताग में परिज्ञातव्य-प्रत्याख्यानात्मक कर्मो की लम्बी तालिका है। जम्बू के प्रश्न पर सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर के धर्म का मर्म-स्पर्शी वर्णन किया है। वहाँ वहुत सारे परिज्ञातव्य-कर्म ऐसे है, जो दशवैकालिक के इस अध्ययन में नही है। प्रस्तुत अध्ययन के अनाचारो से जिनकी तुलना होती है, वे ये हैं

(१) वस्तिकर्म, (२) विरेचन, (३) वमन, (४) अजन, (५) गंध, (६) माल्य, (७) स्नान, (८) दत-प्रक्षालन, (९) औद्देशिक, (१०) क्रीत-कृत, (११) आहृत, (१२) कल्क-उद्वर्तन, (१३) सागारिक-पिण्ड, (शय्यातर-पिण्ड), (१४) अष्टापद, (१५) उपानत्, (१६) छत्र, (१७) नालिका, (१८) वाल-वीजन, (१९) पर-अमत्र (गृहि-अमत्र), (२०) आसन्दी-पर्यंक, (२१) गृहान्तर-निषद्या, (२२) सम्प्रच्छन्न, (२३) स्मरण—आतुर-स्मरण और (२४) अन्नपानानुप्रदान—गृहि वैयावृत्त्य।[2]

आचाराङ्ग में भगवान् के साधना-काल का अत्यन्त प्रामाणिक विवरण है। वहाँ वताया गया है कि भगवान् गृहस्थ का वस्त्र नही पहनते थे, गृहस्थ के पात्र में खाते भी

१—स्थानांग, ९।३।६९३।

२—सूत्रकृतांग, १।९।१२,१३ से १८,२०,२१,२३,२९।

नही थे[1] और वे सशोधन-विरेचन, वमन, गात्राभ्यग, स्नान, सवाधन, मर्दन, दन्त-प्रक्षालन (दतौन के द्वारा दन्त-प्रक्षालन) नही करते थे।[2]

सूत्रकृताग में दन्त-प्रक्षालन, अजन, वमन, धूप और धूम्र-पान का निषेध मिलता है। वृत्तिकार ने इन्हे उत्तर गुण कहा है।[3] भगवान् महावीर के आचार-धर्म का आधार अहिंसा है और अनाचार का आधार हिंसा है। भगवान् ने हिंसा का सामान्य निषेध किया और हिंसा के उन प्रसगो का भी निषेध किया, जिनका आसेवन उनके समकालीन अन्य श्रमण और परिव्राजक करते थे।

महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाया हुआ भोजन लेते थे, निमन्त्रण भी स्वीकार करते थे। वैदिक-संन्यासियो व साख्य-परिव्राजको मे कन्द-मूल-भोजन का बहुत प्रचलन था। भगवान् महावीर ने इन सबका निषेध किया। निषेध का हेतु है—हिंसा का परिहार। सांख्य व वैदिक सन्यासियो मे शौच का प्राधान्य था। भगवान् ने विनय-आचार को प्रधान माना, इसलिए वे शौच को वह स्थान न दे सके, जो उन्होने विनय को दिया। स्नान के निषेध की पृष्ठभूमि में अहिंसा का विचार है।[4] अपरिग्रह की दृष्टि से उन्होने शरीर-निरपेक्षता पर बल दिया। शरीर परिग्रह है।[5] उसकी साज-सज्जा आसक्ति उत्पन्न करती है, इसलिए उन्होने उद्वर्तन, अभ्यग आदि का निषेध किया। कुछ निषेधो में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का दृष्टिकोण भी रहा है। शख-लिखित ने प्रोषित-भर्तृका कुल-स्त्री के लिए कुछ निषेध बतलाए है। वे इन्ही के समान हैं। उसके मतानुसार प्रेंखा (दोला) ताडव, विहार, चित्र-दर्शन, अगराग, उद्यानयान, विवृतशयन, उत्कृष्ट पान तथा भोजन, कदुक-क्रीडा, धूम्र, गन्ध, माल्य, अलकार, दंतधावन, अजन, आदर्शन, प्रसाधन आदि अस्वतंत्र प्रोषित-भर्तृका कुल-स्त्री को नही करना चाहिए।[6]

१—आचारांग, १।९।१।१९ :

णो सेवइ य परवत्थं, परपाए वि से न भुंजित्था।

२—वही, १।९।४।२

संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च।

संवाहणं च न मे कप्पे दंतपक्खालणं च परिन्नाय॥

३—सूत्रकृतांग, २।१।१५, वृत्ति पत्र २९९

णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणे णो तं परिआविएज्जा—इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणा प्रतिपाद्यन्ते।

४—देखो—दशवैकालिक, ६।६०-६२।

५—स्थानांग, ३।१।१३८

तिविहे परिग्गहे प० तं०—कम्मपरिग्गहे सरीरपरिग्गहे बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

६—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १५१।

निषेध-हेतुओं का स्थूल विभाग :

क्रीतकृत और सन्निधि का निषेध अपरिग्रह की दृष्टि से है। संबाधन, दंत-प्रधावन, सप्रोञ्छन, देह-प्रलोकन, छत्र, चैकित्स्य, उपानत्, उद्वर्तन, वमन, वस्तिकर्म, विरेचन, अंजन, दंतवण, अभ्यग और विभूषा—इनका निषेध देह-निर्ममत्व और ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए भगवान् ने जो प्रवचन किया, उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। जो भिक्षु ब्रह्मचर्य का आचरण करता है, उसके लिए अभ्यग, अंग-प्रक्षालन, सबाधन, उपलेप, धूपन, शरीर-मण्डन, स्नान, दत-धावन आदि निषेध बतलाए है।[1]

जैन-परम्परा में स्नान का निषेध दशवैकालिक (६।६०-६२) के अनुसार अहिंसा की दृष्टि से है और प्रश्नव्याकरण[2] के उक्त सन्दर्भ के अनुसार ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। अष्टापद (द्यूत) का निषेध क्रीडा-रहित मनोभाव से सम्बन्धित है आजीव-वृत्तिता का निषेध एषणा-शुद्धि की दृष्टि से है। आतुर-स्मरण का निषेध इंद्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य आदि कई दृष्टियो से है। शेष सब निषेधों की पृष्ठभूमि अहिंसा है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने औद्देशिक आदि अनाचरणीयता के कारणो का उल्लेख किया है। उनमें जीव-वध, अधिकरण, विभूषा, उड्डाह-अपवाद, एषणा-घात, ब्रह्मचर्य-बाधा, गर्व, सूत्रार्थ-बाधा, अनिस्संगता, पापानुमोदन आदि मुख्य हैं।[3]

१—प्रश्नव्याकरण, चतुर्थ संवरद्वार, सूत्र २७

जो सुद्धं चरति बंभचेरं, इमं च रतिरागदोसमोहपवड्ढणकर किंमज्झपमाय-दोसपासत्थसीलकरणं अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर - चरण-वदण-धोवण-संबाहण - गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्नवास-धूवण - सरीरपरिमंडण - बाउसिकहसिय-भणिय-नट्टगीयवाइयनडनट्टकजल्लमल्ल पेच्छणवेलवक जाणि य सिंगारागाराणि य अन्नाणि य एवमादियाणि तवसंजमबंभचेरघातोपघातियाइ अणुचरमाणेणं बमचेर वज्जेयव्वाइं सव्वकालं, भावेयव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्चकाल, कि ते ? अण्हाणगअदंतधावणसेयमलजल्लधारणंमूणवयकेसलोए य खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिण-कट्ठसेज्जा-भूमिनिसेज्जा परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण निंदण-दंसमसग-फास-नियम-तव-गुण-विणयमादिएहिं जहा से थिरतरक होइ बंभचेरं। इमं च अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

२—वही, चतुर्थ संवरद्वार।

३—देखो—दशवैकालिक, (भा०२), पृष्ठ ४३-४६।

विनय का दृष्टिकोण :

विनय तप है और तप धर्म है, इसलिए धार्मिक को विनीत होना चाहिए—विनय करना चाहिए।[1] जिस संघ में आचार्य और दीक्षा-पर्याय में बडे श्रमणो के साथ विनम्र व्यवहार नही किया जाता, वह प्रवचन की भावना नहीं कर सकता। विनय कषाय-त्याग से उत्पन्न होता है। आचार्य से नीचे आसन पर बैठना, उनके पीछे चलना, चरण-स्पर्श करना और हाथ जोडकर वन्दन करना (दश० ९।२।१७)—यह सारा व्यावहारिक विनय है किन्तु जिसका कषाय प्रबल है, वह ऐसा नहीं कर सकता।

विनय का दूसरा रूप अनुशासन है। भगवान् महावीर ने अनुशासन को साध्य-सिद्धि का बहुत बडा साधन माना है। यही कारण था कि उनके जैसा सुव्यवस्थित संघ उनके किसी भी सम-सामयिक आचार्य का नही बना। उन्होंने कहा—"जो मुनि, बच्चे, बूढ़े, रात्निक अथवा सम-वयस्क के हितानुशासन को सम्यक् भाव से स्वीकार नही करता और भूल को फिर न दोहराने का संकल्प नही करता, वह अपने साध्य की आराधना नही कर सकता। आचार्य का अनुशासन कौन-सी बडी बात है, हित का अनुशासन एक घटदासी दे, वह भी मानना चाहिए। (सूत्रकृताग १।१४।७-८)

विनय का तीसरा रूप है अनाशातना—किसी भी रूप में अवज्ञा न करना। इसमें छोटे-बडे का कोई प्रश्न नहा है। जो किसी एक मुनि की आशातना करता है, वह सबकी आशातना करता है। वह उस व्यक्ति की आशातना नही किन्तु ज्ञान आदि गुणो (जो उसमें, अपने मे और सब में है) की आशातना करता है।[2]

विनय का चौथा रूप है भक्ति। बडों के आने पर खडा होना, आसन देना, सामने जाना, पहुँचाने जाना आदि-आदि सेवा-कर्म भक्ति कहलाते है।

आन्तरिक भावना के सम्बन्ध को बहुमान कहा जाता है। यह विनय का पाँचवाँ प्रकार है।

वर्ण-संज्वलन का अर्थ है सद्भूत गुणों की प्रशंसा करना। यह विनय का छठा प्रकार है। गुण-सम्वर्धन की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विनय के ये सभी प्रकार प्रस्तुत आगम में यत्र-तत्र बिखरे पडे है। नवें अध्ययन की रचना इन्ही के आधार पर हुई है।

१—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३ :

विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो।

२—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, २९।९ :

एकस्याशातनाऽप्यत्र, सर्वेषामेव तत्त्वतः।
अन्योन्यमनुविद्धा हि, तेषु ज्ञानादयो गुणाः॥

अध्याय ३

महाव्रत

१–जीवों का वर्गीकरण

अध्यात्म का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा को जानना, देखना और पाना यही उसका आदि, मध्य और अन्त है। जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।[1] जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है और जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।[2] इस सिद्धान्त की भाषा में यही तथ्य निहित है कि आत्मा को जाने विना कोई अनात्मा को नहीं जान सकता और अनात्मा को जाने बिना कोई आत्मा को नही जान सकता। इन दोनो को जाने बिना कोई आत्मा को नही पा सकता। दशवैकालिककार ने इस सत्य का उद्घाटन इन शब्दो में किया है—

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ सजमं ? ॥
जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहिइ संजमं ॥४।१२,१३

जैन-साहित्य में जीव-विज्ञान और अजीव-विज्ञान की बहुत विशद चर्चा है। दशवैकालिक का जीव विभाग उतना विशद नहीं है, पर सक्षेप में उसकी रूप-रेखा का बोध कराया गया है।

जैन-दर्शन विश्व के समस्त जीवों को छह निकायों में वर्गीकृत करता है[3]—

१—पृथ्वीकायिक—खनिज जीव।
२—अप्कायिक—जल जीव।
३—तेजस्कायिक—अग्नि जीव।
४—वायुकायिक—वायु जीव।
५—वनस्पतिकायिक—हरित जीव।
६—त्रसकायिक—गतिशील जीव।

१–आचारांग, १।३।४।१२३ :
जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

२–वही, १।१।७।५७ :
जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।

३–दशवैकालिक, ४। सू० ३-९।

इनके अवान्तर प्रकारो का भी संक्षिप्त उल्लेख मिलता है :

१—पृथ्वी—भित्ति, शिला, लेष्टु ।[1]

२—अप्—ओस, हिम, महिका, करक (ओला), हरतनुक, शुद्ध-उदक ।[2]

३—तेजस्—अगार, मुरमुर, अर्चि, ज्वाला, अलात्, शुद्ध-अग्नि, उल्का ।[3]

४—वायु—पंखे की हवा, पत्र की हवा, शाखा की हवा, मोरपिच्छी की हवा, वस्त्र की हवा, हाथ की हवा, मुँह की हवा ।[4]

५—वनस्पति—अग्रबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, सम्मूर्च्छिम, तृण-लता ।[5]

६—त्रस—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज, औपपातिक ।[6]

प्रथम पाँच निकाय के जीव स्थावर होते है । उनका ज्ञान सर्वाधिक निम्न कोटि का होता है । अत वे इच्छापूर्वक आ-जा नही सकते । उन्हें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त होता है । अत वे सब एकेन्द्रिय होते है । ज्ञान के विकासक्रम की दृष्टि से जीवो का विभाजन इस प्रकार होता है :

१—एकेन्द्रिय,

२—द्वीन्द्रिय,

३—त्रीन्द्रिय,

४—चतुरिन्द्रिय[7] और

५—पञ्चेन्द्रिय—असज्ञी पञ्चेन्द्रिय—तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम—मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव) ।

द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस है । जिन प्राणियो में सामने

१—दशवैकालिक, ४। सू० १८ ।

२—वही, ४।सू० १९ ।

३—वही, ४।सू० २० ।

४—वही, ४।सू० २१ ।

५—वही, ४।सू० ८ ।

६—वही, ४।सू० ९ ।

७—इनमे उत्तरोत्तर ज्ञान विकसित होता है । देखो दशवैकालिक (भा० २), पृष्ठ १३५, पाद-टिप्पण ४ ।

जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भय-भीत होना, दौडना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एव गति के विज्ञाता हैं, वे त्रस कहलाते है। (४। सू०९)

आठवें अध्ययन (श्लोक १३-१६) में आठ सूक्ष्म बतलाए गए हैं (१) स्नेह-सूक्ष्म—ओस आदि, (२) पुष्प-सूक्ष्म—बरगद आदि के फूल, (३) प्राण-सूक्ष्म—कुन्थु आदि सूक्ष्म जन्तु, (४) उत्तिग सूक्ष्म—कीडीनगरा, (५) पनक-सूक्ष्म—पंच वर्ण वाली काई, (६) बीज-सूक्ष्म—सरसो आदि के मुँह पर होने वाली कणिका, (७) हरित-सूक्ष्म—तत्काल उत्पन्न अकुर और (८) अण्ड-सूक्ष्म—मधुमक्खी, कीडी, मकडी, ब्राह्मणी और गिरगिट के अण्डे।[1]

त्रस जीव हमारे प्रत्यक्ष है। वनस्पति को भी जीव मानने में उतनी कठिनाई नही है जितनी शेष चार निकायो को मानने में है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में जीव नही किन्तु ये स्वय जीव हैं—यह धातुवादी बौद्धो और भूतवादी नैयायिको को ही अमान्य नही किन्तु वर्तमान विज्ञान को भी अमान्य है। जैन-दर्शन के अनुसार सारा दृश्य-जगत् या तो सजीव है या जीव का परित्यक्त शरीर। इस विश्व में जितना कठोर द्रव्य है वह सब सजीव है। विरोधी शस्त्र से उपहत होने पर वह निर्जीव हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रारम्भ में सारी पृथ्वी सजीव होती है, फिर जल आदि विरोधी द्रव्यो के योग से वह निर्जीव हो जाती है। इस प्रकार पृथ्वी की दो अवस्थाएँ बनती है · शस्त्र से अनुपहत—सजीव और शस्त्र से उपहत—निर्जीव।

इसी प्रकार जितना द्रव, जितना उष्ण, जितना स्वत तिर्यग् गतिशील और जितना चय-अपचयशील द्रव्य होता है, वह सव प्रारम्भ में सजीव ही होता है। इन छहो निकायो का विवरण इस प्रकार है

जीवनिकाय	लक्षण	शस्त्र से अनुपहत	शस्त्र से उपहत
(१) पृथ्वी	कठोरता	सजीव	निर्जीव
(२) अप्	द्रवता	"	"
(३) तेजस्	उष्णता	"	"
(४) वायु	स्वत तिर्यग् गतिशीलता	"	"
(५) वनस्पति	चय-अपचयधर्मता	"	"
(६) त्रस	चय-अपचयधर्मता	"	"

इस प्रकार षट् जीवनिकाय का संक्षिप्त वर्णन इस आगम में मिलता है। (४। सू० ४-९)

१-देखो—दशवैकालिक (भाग-२), पृष्ठ ४२०-२१, श्लोक १५ के टिप्पण।

२—संक्षिप्त व्याख्या

१. अहिंसा

अहिंसा और समता :

भगवान् महावीर समता-धर्म के महान् प्रवर्तक थे। उन्होंने कहा—"मेरी वाणी में आस्था रखने वाला भिक्षु छहो निकायो को अपनी आत्मा के समान माने।"[1] इस आत्म-साम्य की भूमिका से उन्होंने अपने भिक्षुओ को अनेक निर्देश दिए। आत्मौपम्य की कसौटी पर उन्हें कसा जाता है तो वे शत-प्रतिशत खरे उतरते है। निरे बुद्धिवादी दृष्टिकोण से देखने पर वे कुछ स्वाभाविक लगते है, कुछ अस्वाभाविक भी। किन्तु सम्यग् दृष्टिकोण होने पर वे अस्वाभाविक नहीं लगते। भगवान् के निर्देशो का सार इस प्रकार है

पृथ्वी-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि सजीव पृथ्वी को न कुरेदे और न उसका भेदन करे।[2] सजीव मिट्टी, क्षार, हरिताल, हिंगुल, मैनशिल आदि से लिप्त हाथ व कडछी से भिक्षा न ले।[3] शुद्ध-पृथ्वी और मिट्टी के रजकणों से भरे हुए आसन पर न बैठे।[4] गात्र की उष्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है, इसलिए शुद्ध-पृथ्वी (शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी) पर नहीं बैठना चाहिए। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—शुद्ध-पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए अर्थात् निर्जीव पृथ्वी पर भी कम्बल आदि बिछाए बिना नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि शुद्ध-पृथ्वी पर बैठने से उसके निम्न भाग में रहे हुए जीवो की विराधना होती है।[5] खाने-पीने के अयोग्य वस्तु को निर्जीव पृथ्वी पर डाले।[6] मल,

---

१—दशवैकालिक, १०।५।

२—वही, ४।सू० १८, ८।४।

मिलाइए—अष्टाङ्गहृदय, सूत्र-स्थान, २।३६ :

नाकस्माद् विलिखेद् भुवम्।

३—वही, ५।१।३३-३५।

४—वही, ८।५।

५—वही, (भाग-२), पृष्ठ ४१६, श्लोक ५ के टिप्पण।

६—वही, ५।१।८०-८१।

मूत्र, श्लेष्मादि का उत्सर्ग भी अचित्त पृथ्वी पर करे।[1] पृथ्वी का खनन न करे।[2] पृथ्वी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।[3]

अप्काय (जल) :

आयुर्वेद साहित्य में जल के दो विभाग वर्णित है—(१) आन्तरिक्ष और (२) भौम।[4]

आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का होता है :

(१) धार— धार बन्ध बरसा हुआ जल।
(२) कार— ओले का जल।
(३) तौषार— तुषार-जल।
(४) हैम— हिम-जल।

भौम जल सात प्रकार का होता है

(१) कौप— कुएँ का जल।
(२) नादेय— नदी का जल।
(३) सारस— सरोवर का जल।
(४) ताडाग— तालाब का जल।
(५) प्राश्रवण— झरने का जल।
(६) औद्भिद्— पृथ्वी फोड कर निकला हुआ जल।
(७) चौण्ट्य— बिना बन्धे हुए कुएँ का जल।

दशवैकालिक के कर्त्ता ने जल के मुख्य दो विभाग किए हैं—(१) उदक—भूमि-जल और (२) शुद्धोदक—अन्तरिक्ष-जल। ओस, हिम, महिका, (तुषार), करक (ओले)—ये अन्तरिक्ष-जल के प्रकार है। हरतनुक औद्भिद् जल—यह भूमि-जल का प्रकार है। कुएँ आदि का पानी भी उदक शब्द के द्वारा संगृहीत है। इस प्रकार जल का विभाग वैसा ही है, जैसा आयुर्वेद-जगत् मे सम्मत है।

१—दशवैकालिक, ८।१८।
२—वही, १०।२।
३—वही, ६।२६,२९।
४—सुश्रुत, सूत्र-स्थान, ४५।७।

अप्-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि सजीव जल का स्पर्श न करे। सजीव जल से भीगे हुए वस्त्र या शरीर का न स्पर्श करे, न निचोड़े, न झटके, न सुखाए और न तपाए।[1] जल की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।[2] शीतोदक का सेवन न करे। तप्तानिर्वृत—तप्त होने पर जो निर्जीव हो गया हो, वैसा जल ले।[3]

तप्त और अनिर्वृत—इन दो शब्दो का समास मिश्र (सचित्त-अचित्त) वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती है। उनमें से जव जीव च्युत हो जाते है, केवल शरीर रह जाते है, तव वे वस्तुएँ अचित्त वन जाती है। जीवो का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वयं होता है और विरोधी पदार्थ के सयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो सकता है। जीवों की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते है। मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवो का शस्त्र अग्नि है। जल और वनस्पति सचित्त होते है। अग्नि मे उवालने पर ये अचित्त हो है किन्तु ये पूर्ण-मात्रा में उवाले हुए न हो उस स्थिति में मिश्र वन जाते है—कुछ जीव मरते है, कुछ नही मरते, इसलिए वे सचित्त-अचित्त वन जाते है। इस प्रकार के पदार्थ को तप्तानिर्वृत कहा जाता है।[4]

गर्म होने के वाद ठडा हुआ पानी कुछ समय में फिर सचित्त हो जाता है, उसे भी तप्तानिर्वृत कहा गया है।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार ग्रीष्म-काल में एक दिन-रात के वाद गर्म पानी फिर सचित्त हो जाता है तथा हेमन्त और वर्षा-ऋतु के पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त हो जाता है।[5] जिनदास महत्तर का भी यही अभिमत रहा

१—दशवैकालिक, ४।सू०२०, ८।७।

२—वही, ६।२९,३०,३१।

३—वही, ८।६।

४—अगस्त्य चूर्णि :

जाव णातीवअगणिपरिणतं तं तत्तअपरिणिव्वुडं।

५—वही :

अहवा तत्तं पाणित पुणो सीतलीभूतं आउक्कायपरिणामं जाति तं अपरिणयं अणिव्वुडं गिम्हे अहोरत्तेणं सचित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु, पुव्वण्हे कतं अवरण्हे।

है ।[१] टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नही की है । ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो में अचित्त वस्तु के फिर से सचित्त होने का वर्णन मिलता है । जल की योनि अचित्त भी होती है ।[२]

सूत्रकृताग (२।३।५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते है—वात-योनिक और उदक-योनिक । उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं । वे सचित्त उदक मे ही पैदा हों, अचित्त मे नही हों, ऐसे विभाग का आधार नही मिलता क्योंकि वह अचित्त-योनिक भी है । इसलिए यह सूक्ष्म-दृष्टि से विमर्शनीय है । प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्व का है ।

तेजस्-जगत् और अहिंसक निर्देश :

तेजस् काय के जीवो के भेद इस प्रकार हैं

अग्नि— स्पर्श-ग्राह्य अग्नि ।

अंगार— ज्वाला रहित कोयला आदि ।

मुर्मुर— कंडे, करसी, तुष, चोकर, भूसी आदि की आग ।

अर्चि— अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला ।

अलात— अधजली लकडी ।

शुद्ध-अग्नि—इन्धन रहित अग्नि ।

उल्का— गगनाग्नि ।

मुनि इनको प्रदीप्त न करे, इनका घर्षण न करे, इनको प्रज्वलित न करे, इनको न बुझाये ।[3] प्रकाश और तापने के लिए अग्नि न जलाए ।[४] अग्नि की किसी प्रकार से हिंसा न करे ।[५]

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ११४

तत्तं पाणीयं तं पुणो सीतलीभूतमनिव्वुडं भण्णइ, तं च न गिण्हे, रत्तिं पज्जुसियं सचित्ती भवइ, हेमंतवासासु पुव्वण्हे कयं अवरण्हे सचित्ती भवति, एवं सचित्तं जो भुंजइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ ।

२—स्थानांग, ३।१।१४० :

तिविहा जोणी पण्णत्ता तंजहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया । एवं एगिंदियाणं विगलिंदियाणं संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य ।

३—दशवैकालिक, ४।सू०२०, ८।८ ।

४—वही, ६।३४ ।

५—वही, ६।३२-३५ ।

वायु-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि चामर आदि से अपने पर या दूसरो पर हवा न करे। मुँह से फूंक न दे।[1] वायुकाय की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।[2]

वनस्पति :

आयुर्वेद के ग्रन्थो में वनस्पति का एक विशेष अर्थ है। सुश्रुत सहिता में स्थावर औषधि के चार प्रकार बतलाए गए हैं—(१) वनस्पति, (२) वृक्ष, (३) वीरुध और (४) औषधि। इनमें से जिनके पुष्प न हो किन्तु फल आते हों उन्हें वनस्पति ; जिनके पुष्प और फल दोनो आते हों उन्हें वृक्ष , जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हों उन्हे वीरुध तथा जो फलो के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हो उन्हें ओषधि कहते हैं।[3]

आगम-साहित्य में वनस्पति शब्द वृक्ष, गुच्छ, गुल्म आदि सभी प्रकार की हरियाली का वाचक है।[4]

सातवें अध्ययन में वनस्पति के क्रमिक विकास का निरूपण मिलता है। उसका उत्पादन सात अवस्थाओं में पूरा होता है। वे ये है[5]

१—रूढ।
२—बहु संभूत।
३—स्थिर।
४—उत्सृत।
५—गर्भित।
६—प्रसूत।
७—ससार।

१–दशवैकालिक, ४।सू०२१,८।९।
२–वही, ६।३६-३९।
३–सुश्रुत, सूत्र-स्थान, १।३७

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, ओषधय इति। तासु अपुष्पा. फलवन्तो वनस्पतयः। पुष्पफलवन्तो वृक्षाः। प्रतानवत्य. स्तम्बिन्यश्च वीरुध.। फलपाकनिष्ठा ओषधयः इति।

४–दशवैकालिक, ४।सू०८।
५–देखो—दशवैकालिक (भा०२), पृष्ठ ३९१-९२, श्लोक ३५ का टिप्पण।

वनस्पति की दश अवस्थाएँ होती है—(१) मूल, (२) कन्द, (३) स्कन्ध, (४) त्वचा, (५) शाखा, (६) प्रवाल, (७) पत्र, (८) पुष्प, (९) फल और (१०) बीज।

शिष्य ने पूछा—"गुरुदेव ! बीज में जो जीव था, उसके व्युत्क्रान्त होने पर क्या दूसरा जीव वहाँ उत्पन्न होता है या वही जीव ?"

आचार्य ने कहा—"बीज दो प्रकार के है—योनिभूत और अयोनिभूत। योनिभूत बीज वह होता है जिसकी योनि नष्ट न हुई हो। जिस प्रकार ५५ वर्ष की स्त्री अयोनिभूत होती है—वह गर्भ को धारण नही कर सकती, उसी प्रकार ये बीज भी कालान्तर में अबीज हो जाते हैं। जो अयोनिभूत है वह नियमत निर्जीव होता है। योनिभूत सजीव और निर्जीव—दोनो प्रकार का होता है। उस योनिभूत बीज में व्युत्क्रान्त होने वाला जीव भी उत्पन्न हो सकता है और दूसरा जीव भी। फिर बार-बार वहाँ दूसरे जीव भी उत्पन्न हो सकते है। कहा है—उत्पद्यमान सभी किसलय अनन्तजीवी होते हैं। वढता हुआ वही वनस्पति अनन्तजीवी या परित्तजीवी भी हो सकता है। बीज शरीरी जीव जहाँ-जहाँ अपनी काया को वढाता है वहाँ-वहाँ पत्र, फूल, स्कन्ध, शाखा आदि को भी उत्पन्न करता है।"[1]

वर्षा से उष्णयोनिक वनस्पति म्लान हो जाती है।[2]

विभिन्न प्रकरणो में जलज व स्थलज वनस्पति के अनेक नाम मिलते हैं

जलज	स्थलज
१—हढ (२।९) आदि-आदि।	१—मूला।
	२—आर्द्रक।
	३—इक्षु।
	४—कन्द-मूल (३।७) आदि-आदि।

वनस्पति-जगत् और अहिंसक निर्देश :

मुनि वनस्पति पर न चले, न खडा रहे, न वैठे और न सोए।[3] वनस्पति को

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १३८-१३९।

२—वही, पृष्ठ २६२

उण्हजोणिओ वा वणप्फइ वा कुहेज्जा।

३—दशवैकालिक, ४।सू०२२, ५।१।३,२६, ८।११।

कुचल कर भिक्षा दे उसके हाथ से वह न ले।[१] वनस्पति-मिश्रित भोजन न ले।[२] कच्ची वनस्पति न ले।[३] खाने का भाग कम और डालने का अधिक हो, वैसी वनस्पति न ले।[४] वृक्षों को देख कर ये गृह, कृषि आदि के उपकरण-निर्माण के उपयोगी है—इस प्रकार न कहे।[५] वृक्षो को पुष्पित और फलित देख कर वैसा वचन न कहे, जिससे उनका उपघात हो।[६]

वृक्ष, फल व मूल का छेदन न करे।[७] पुष्प आदि सूक्ष्म वनस्पति का वध न हो, वैसी सावधानी बरते।[८] वनस्पति की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।[९]

त्रस-जगत् और अहिंसक निर्देश :

कीट, पतंग आदि त्रस-जीव अपने शरीर या धर्मोपकरण पर चढ़ जाएँ तो उन्हें सावधानी पूर्वक वहाँ से हटा कर एकान्त में रख दे, उनका संघात न करे।[१०] कुत्ते, नई व्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी आदि के समागम से दूर रहे।[११] मार्ग में जहाँ नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न दे।[१२] मनुष्य पशु-पक्षी, साँप आदि को देख कर वह स्थूल है, बहुत चर्बी वाला है, वध्य है, वाह्य है अथवा पकाने योग्य है, ऐसा न कहे।[१३] गायें दुहने योग्य है, बैल दमन करने योग्य हैं, हल में जोतने योग्य हैं, भार ढोने योग्य है और रथ-योग्य

१-दशवैकालिक, ५।१।२९, ५।२।१४-१७।
२—वही, ५।१।५७।
३—वही, ५।१।७०; ५।२।१८-२४; ८।१०।
४—वही, ५।१।७३,७४।
५—वही, ७।२६-२९।
६—वही, ७।३०-३५।
७—वही, ८।१०; १०।३।
८—वही, ८।१४-१६।
९—वही, ६।४०-४२।
१०—वही, ४।सू० २३।
११—वही, ५।१।१२।
१२—वही, ५।२।७।
१३—वही, ७।२२।

हैं—ऐसा न कहे।[1] मेष, बालक, कुत्ते और बछड़े को उल्लघ कर प्रवेश न करे।[2] त्रस काय की किसी भी प्रकार से हिंसा न करे।[3]

२ सत्य

मुनि न स्वय असत्य बोले, न दूसरों को असत्य बोलने की प्रेरणा दे और न असत्य का अनुमोदन करे।[4] क्रोध से या भय से, अपने लिए या दूसरों के लिए झूठ न बोले। अप्रिय-सत्य भी न बोले।[5] सत्य में रत रहे।[6]

३ अचौर्य

मुनि गाँव में, नगर में या अरण्य में, थोडी या बहुत, छोटी या बडी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वस्तु बिना दी हुई न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले। न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे।[7] तपस्या, वय, रूप और आचार-भाव की चोरी न करे।[8]

४ ब्रह्मचर्य

मुनि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन न स्वय करे, न दूसरो को मैथुन-सेवन के लिए प्रेरित करे और न मैथुन-सेवन का अनुमोदन करे।[9] अब्रह्मचर्य घोर है, प्रमाद है, उसका सेवन न करे।[10] केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे।[11] स्त्रियो के चित्रो से चित्रित भित्ति या आभूषणों से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगा कर न

१—दशवैकालिक, ७।२४।
२—वही, ५।१।२२।
३—वही, ६।४३-४५।
४—वही, ४।सू०१२।
५—वही, ६।११।
६—वही, ९।३।३।
७—वही, ४।सू०१३,६।१३,१४।
८—वही, ५।२।४६।
९—वही, ४।सू०१४।
१०—वही, ६।१५।
११—वही, ८।५२।

देखे।[1] विकलाग या वृद्ध स्त्री से भी दूर रहे।[2] विभूषा न करे। प्रणीत रस का भोजन न करे। स्त्री का ससर्ग न करे।[3] स्त्रियों के अग, प्रत्यग, संस्थान, मधुर वोली और कटाक्ष को न देखे।[4] ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे।[5] आसक्त दृष्टि से न देखे। घर में जा अतिदूर तक न देखे।[6] स्नान-घर और शौच-गृह को न देखे।[7]

८ अपरिग्रह

मुनि गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या वहुत, छोटी या वडी, सजीव या निर्जीव—कोई भी वस्तु पर ममत्व न रखे, न दूसरो को ममत्व रखने की प्रेरणा दे और न ममत्व का अनुमोदन करे।[8] खाद्य-पदार्थों का संग्रह न करे। ये मेरे कल काम आयेंगे—ऐसा सोच संचय न करे।[9] मुनि वस्त्र, पात्र तो क्या शरीर पर भी ममत्व न रखे।[10] उपधि में आसक्त न वने।[11] ऋद्धि, सत्कार और पूजा की भावना का त्याग करे। जीवन की अभिलाषा न करे।[12] मुनि भोजन के लिए कही प्रतिवद्ध न हो।[13]

१—दशवैकालिक, ८।५३,५४।
२—वही, ८।५५।
३—वही, ८।५६।
४—वही, ८।५७।
५—वही, ८।५८।
६—वही, ५।१।२३।
७—वही, ५।१।२५।
८—वही, ४।सू०१५।
९—वही, ६।१७ ; १०।८।
१०—वही, ६।२१।
११—वही, १०।१६।
१२—वही, १०।१७।
१३—वही, ११५।

अध्याय ४

चर्या-पथ

१–चर्या और विहार

मुनि आतापना ले—परिश्रमी बने, सुकुमारता को छोडे—कष्ट-सहिष्णु बने। वह—

स्नान न करे।[1]

गन्ध न सूघे। गन्ध-द्रव्य का विलेपन न करे।[2]

माला न पहने।[3]

पंखा न झले।

गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे।[4]

राज-पिण्ड न ले।[5]

दानशाला से न ले।[6]

अंग-मर्दन न करे।[7]

दाँत न पखारे। दतौन न करे।[8]

शरीर का प्रमार्जन न करे।[9]

दर्पण आदि में शरीर न देखे।[10]

शतरज न खेले। जूआ न खेले।[11]

छत्र धारण न करे।[12]

जूते न पहने।[13]

उबटन न करे।[14]

रूप-बल, कान्ति बढाने के लिए धूम्र-पान न करे, वमन न करे, वस्तिकर्म न करे।

विरेचन न ले।[15]

आँखों में अजन न आजे।[16]

तैल-मर्दन न करे।[17]

शरीर को अलकृत न करे।[18]

१,२,३,४—दशवैकालिक, ३।२, ६।६०-६३।

५,६,७,८,९,१०—वही, ३।३।

११,१२,१३—वही, ३।४।

१४—वही, ३।५।

१५,१६,१७,१८—वही, ३।९।

मुनि ग्रीष्म में सूर्य की आतापना ले, हेमन्त में खुले बदन रहे और वर्षा-ऋतु में एक स्थान में रहे।[1] भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, सहज तप मान भूख को सहन करे।[2] वन्दना न करने पर कुपित न हो और वन्दना करने पर गर्वित न हो।[3] मुनि तपस्या करे, प्रणीत रस का वर्जन करे और मद्य-प्रमाद से दूर रहे।[4] मुनि सभी उपकरणो का तथा उच्चार-भूमि, संस्तारक आदि का यथासमय प्रमाणोपेत प्रतिलेखन करे।[5] मुनि अनेक बातें सुनता है, अनेक चीजें देखता है, किन्तु सभी सुना या देखा हुआ दूसरों के समक्ष न कहे।[6] गृहस्थ से संसर्ग—परिचय न करे।[7] किसी एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे।[8] कर्कश और दारुण स्पर्श को सहे।[9] भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, रति, अरति आदि को समभाव से सहे।[10] किसी का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष न दिखाए। ज्ञान, जाति और तपस्या का मद न करे।[11] अपनी भूल स्वीकार करे। दूसरी बार उसे न दोहराए।[12] अपराध को न छुपाए, न उसका अपलाप करे।[13] सदा स्पष्ट रहे।[14] निद्रा को बहुमान न दे। अट्टहास न करे, काम-कथा न करे।[15] मुनि दूसरो के लिए बने हुए, मल-मूत्र की भूमि से युक्त, स्त्री और पशु से रहित गृह, शयन और आसन का सेवन करे।[16] जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या ले, उसी श्रद्धा

१—वही, ३।१२।
२—वही, ५।२।६।
३—वही, ५।२।३०।
४—वही, ५।२।४२।
५—वही, ८।१७।
६—वही, ८।२०।
७—वही, ८।२१,५२।
८—वही, ८।२४।
९—वही, ८।२६।
१०—वही, ८।२७।
११—वही, ८।३०।
१२—वही, ८।३१।
१३—वही, ८।३२।
१४—वही, ८।३२।
१५—वही, ८।४२।
१६—वही, ८।५१।

मे पालन करे ।[१] छोटे-बडे, स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-साधु—किसी का तिरस्कार न करे ।[२] तीर्थंकर के वचन में स्थिर रहे । अधन—अकिंचन बना रहे ।[३] गृहपति की आज्ञा लिए विना चिक आदि को हटा कर अन्दर प्रवेश न करे ।[४] बहुश्रुत के पास बैठे, अर्थ का निश्चय करे । बहुश्रुत का उपहास न करे ।[५] भोजन कर स्वाध्याय में लीन हो जाए ।[६] कभी भयभीत न हो ।[७] सुख-दुख में सम रहे । भोग-प्राप्ति का सकल्प न करे ।[८] कुतूहल न करे ।[९] ऋद्धि, सत्कार और पूजा को त्यागे ।[१०] स्थितात्मा बने ।[११] रूप और लाभ का मद न करे ।[१२]

१–वही, ८।६० ।
२–वही, ९।३।१२ ।
३–वही, १०।६ ।
४–वही, ५।१।१८ ।
५–वही, ८।४३,४९ ।
६–वही, १०।९ ।
७–वही, १०।१२ ।
८–वही, १०।११ ।
९–वही, १०।१३ ।
१०–वही, १०।१७ ।
११–वही, १०।१७ ।
१२–वही १०।१९ ।

२—वेग-निरोध

मल-मूत्र के वेग को न रोके। मल-मूत्र की बाधा होने पर प्रासुक स्थान देख कर, गृहस्वामी की आज्ञा ले, उससे निवृत्त हो जाए।[1]

अगस्त्यसिंह स्थविर मल-मूत्र आदि आवेगों को रोकने से होने वाले रोगों का दिग्दर्शन कराते हुए कहते है—मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति नष्ट हो जाती है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ-रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।[2]

वेग-निरोध के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अभिमत यह है—मनुष्य वात (ऊर्ध्व वात एव अधोवात) मल, मूत्र, छीक, प्यास, भूख, निद्रा, कास, श्रम-जनित श्वास, जम्भाई, अश्रु, वमन और शुक्र—इन तेरह वस्तुओ के उपस्थित (वहिर्गमनोन्मुख) वेगो को न रोके।[3] मल के वेग को रोकने से पिण्डलियो मे ऐंठन, प्रतिश्याय, सिरदर्द, वायु का ऊपर को जाना, पडिकर्त्तिका, हृदय का अवरोध, मुख से मल का आना और पूर्वोक्त वात-रोध जन्य गुल्म, उदावर्त्त आदि रोग होते हैं। मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से—अङ्गो का टूटना, पथरी, वस्ति, मेहन (शिश्न) वक्षण मे वेदना होती है। वात और मलरोध जन्य रोग भी प्राय होते है, अर्थात् कभी नही भी होते है।[4]

१—दशवैकालिक, ५।१।१९।

२—अगस्त्य चूर्णि

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्ढं निरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

३—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ४।१ :

वेगान्नधारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाऽश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥

४—वही, ४। ३-४।

३—ईर्यापथ

कैसे चले ?

मुनि सयम पूर्वक चले—सावधान होकर चले ।[1] धीमे चले, उद्वेग-रहित होकर चले, चित्त की आकुलता को मिटा कर चले ।[2] युग-मात्र भूमि को देख कर चले ।[3] आयुर्वेद के ग्रन्थो में भी युग-मात्र भूमि को देख कर चलने का विधान मिलता है—'विचरेद् युगमात्रदृक्' ।[4] विषम मार्ग से न जाए ।[5] कोयले, राख, तुष और गोवर की राशि को सजीव रजकणो से भरे हुए पैरो मे लाघ कर न चले ।[6] अष्टांगहृदय में भी राख आदि के ढेर को लाँघ कर जाने का निषेध किया गया है । उसका उद्देश्य भले भिन्न हो पर नियम-निर्माण भिन्न नही है । वह इस प्रकार है—चैत्य (ग्राम का पूज्य वृक्ष), पूज्य (पूजा के योग्य गुरु, पिता आदि), ध्वजा, अशस्त (चाण्डाल आदि)—इनकी छाया को न लाँघे । भस्म (राख का ढेर), तुष (धान्य की भूसी), अशुचि (मल, मूत्र, जूठन आदि), शर्करा (ककड), मिट्टी के ढेले, वलि-भूमि (जहाँ वलि दी गई हो), स्नान-भूमि (जहाँ स्नान किया हो)—इनको भी नही लाँघे ।[7] वर्षा, धूअर और महावायु में न चले । उडने वाले जीव अधिक हो तव न चले ।[8] कुत्ते, नव-प्रसूता गाय, उन्मत्त वैल, घोडे-हाथी, वच्चो की क्रीडा-स्थली, कलह और युद्ध मे बच कर चले ।[9] अष्टागहृदय में लिखा है—हिंसक पशु, दष्ट्री—साँप आदि और सींग वाले—मेष आदि से वचे ।[10] ऊँचा मुख कर न चले,

---

१—दशवैकालिक, ४।८ ।

२—वही, ५।१।२ ।

३—वही, ५।१।३ ।

४—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।३२ ।

५—दशवैकालिक, ५।१।४,६ ।

६—वही, ५।१।७ ।

७—अष्टागहृदय, सूत्रस्थान, २।३३।३४

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ॥
नाक्रामेच्छर्करालोष्टवलिस्नान भुवो न च ॥

८—दशवैकालिक, ५।१।८,९ ।

९—वही, ५।१।१२ ।

१०—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, २।४१ ।

झुक कर न चले, बहुत हृष्ट या बहुत आकुल होकर न चले, इन्द्रियों को अपने स्थान में नियोजित करके चले।[1] दौडता, बोलता और हँसता हुआ न चले।[2] गवाक्ष आदि शंकनीय स्थानो को देखता हुआ न चले।[3] भेड, बच्चे, कुत्ते और बछडे को लाघ कर प्रवेश न करे।[4] हिलते हुए काठ, शिला या ईंट के टुकडों पर से न चले।[5] नाना प्रकार के प्राणी भोजन के लिए एकत्रित हो, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक चले।[6]

कैसे बैठे ?

मुनि सयम पूर्वक बैठे—सावधानी से बैठे।[7] आसन्दी, पर्यंक, मच, आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन), वस्त्र से गूथे हुए आसन और पीठ पर न बैठे।[8] भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर में न बैठे।[9] शुद्ध पृथ्वी—शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी पर या पृथ्वी पर कुछ बिछाए बिना न बैठे। अचित्त पृथ्वी पर प्रमार्जन कर, आज्ञा लेकर बैठे।[10] आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो को देख कर बैठे।[11] आचार्य के बराबर, आगे और पीछे न बैठे। गुरु के ऊरु से अपना ऊरु सटा कर न बैठे।[12] गुरु के पास हाथ, पैर और शरीर को गुप्त कर बैठे।[13]

कैसे खड़ा रहे ?

मुनि संयमपूर्वक खडा रहे।[14] पानी तथा मिट्टी लाने के मार्ग और बीज तथा

१—दशवैकालिक, ५।१।१३।
२—वही, ५।१।१४।
३—वही, ५।१।१५।
४—वही, ५।१।२२।
५—वही, ५।१।६५।
६—वही, ५।२।७।
७—वही, ४।८।
८—वही, ३।५,६।५३,५४।
९—वही, ३।५,६।५७।
१०—वही, ८।५।
११—वही, ८।१३।
१२—वही, ८।४५।
१३—वही, ८।४४।
१४—वही, ४।८।

हरियाली का वर्जन कर खड़ा रहे ।[1] आगल, परिघ, द्वार या किंवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे ।[2] किसी घर के आगे वनीपक आदि याचक खड़े हों तो मुनि उनको या गृहस्वामी को दीखे, वैसे खड़ा न रहे, एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए ।[3] वन-निकुंज के बीच, बीज, हरित, अनन्त कायिक वनस्पति, सर्पच्छत्र, काई आदि पर खड़ा न रहे ।[4] आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों को देख कर खड़ा रहे ।[5] गृहस्थ के घर में मुनि झरोखा, सन्धि आदि स्थानों को देखता हुआ खड़ा न रहे, उचित स्थान में खड़ा रहे ।[6]

१—दशवैकालिक, ५।१।२६ ।
२—वही, ५।२।९ ।
३—वही, ५।२।११ ।
४—वही, ८।११ ।
५—वही, ८।१३ ।
६—वही, ५।१।१५ ।

४—वाक्-शुद्धि

कैसे बोले ?

मुनि चार भाषाएँ न बोले— (१) अवक्तव्य-सत्य भाषा, (२) सत्य-असत्य भाषा, (३) असत्य भाषा, और (४) अनाचीर्ण व्यवहार भाषा ।[१] अपापकारी, अकर्कश, असंदिग्ध सत्य और व्यवहार भाषा बोले ।[२] अपने आशय को संदिग्ध बनाने वाला सत्य भी न बोले ।[३] शंकित भाषा न बोले ।[४] काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।[५] किसी को होल, गोल, आदि अवज्ञा-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे ।[६] किसी स्त्री को दादी, नानी, माँ, मौसी, भानजी आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे । किन्तु उनकी अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा गुण-दोष का विचार कर उनके मूल नाम या गोत्र से सम्बोधित करे ।[७] किसी पुरुष को दादा, नाना, चाचा, मामा, पोता आदि स्नेह-सूचक शब्दों से सम्बोधित न करे । किन्तु उन्हें नाम या गोत्र से सम्बोधित करे ।[८] पंचेन्द्रिय जीवों के बारे में स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति-शब्द का प्रयोग करे ।[९] मनुष्य, पशु आदि स्थूल, प्रमेदुर, वध्य, पाक्य हैं—ऐसा न बोले । किन्तु वे परिवृद्ध, उपचित, संजात और महाकाय है—ऐसा कहे ।[१०] वृक्ष आदि को देख कर यह मकान की लकड़ी के लिए या पात्र के लिए या कृषि के उपकरणों के लिए, अहरन आदि के लिए या शयनासन के लिए उपयोगी

१—दशवैकालिक, ७।२ ।
२—वही, ७।३ ।
३—वही, ७।४,११ ।
४—वही, ७।६,९ ।
५—वही, ७।१२ ।
६—वही, ७।१४ ।
७—वही, ७।१५-१७ ।
८—वही, ७।१८-२० ।
९—वही, ७।२१ ।
१०—वही, ७।२२,२३ ।

है, ऐसा न कहे।[1] फल या धान्य पके हैं या कच्चे, तोडने योग्य है या नही, फली नीली हैं या सूखी आदि सावद्य भाषा का प्रयोग न करे।[2] मृत-भोज, पितर-भोज या जीमनवार करणीय है, चोर वध्य है, नदी के घाट सुन्दर हैं—ऐसा न कहे।[3] जीमनवार को जीमनवार है, चोर को धनार्थी है और नदी के घाट समान हैं—ऐसा कहे।[4]

भोजन सम्बन्धी प्रशसा-वाचक शब्दो का प्रयोग न करे।[5] वस्तुओ के क्रय-विक्रय की चर्चा न करे।[6] असंयमी को उठ, बैठ, सो आदि आदेश वचन न कहे।[7] असाधु को साधु न कहे, साधु को साधु कहे।[8] अमुक की जय हो, अमुक की नही —ऐसा न कहे।[9] अपनी या दूसरो की भौतिक सुख-सुविधा के लिए प्रतिकूल स्थिति के न होने और अनुकूल स्थिति के होने की बात न कहे।[10] मेघ, आकाश और मनुष्य को देव न कहे।[11] उन्हे देव कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है, इसलिए उन्हें देव नही कहना चाहिए।[12]

वैदिक साहित्य में आकाश, मेघ और राजा को देव माना गया है, किन्तु यह वस्तु-स्थिति मे दूर है। जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया गया है।

पाप का अनुमोदन करने वाली, अवधारिणी, परोपघातिनी, हास्य पैदा करने वाली आदि भाषा न बोले।[13] अदुष्ट भाषा बोले।[14] हित और आनुलोमिक वचन बोले।[15]

१—दशवैकालिक, ७।२७-२९।
२—वही, ७।३१-३५।
३—वही, ७।३६।
४—वही, ७।३७।
५—वही, ७।४१।
६—वही, ७।४३,४५,४६।
७—वही, ७।४७।
८—वही, ७।४८।
९—वही, ७।५०।
१०—वही, ७।५१।
११—वही, ७।५२,५३।
१२—अगस्त्य चूर्णि :
मिच्छत्तथिरीकरणादयो दोसा इति।
१३—दशवैकालिक, ७।५४।
१४—वही, ७।५५।
१५—वही, ७।५६।

प्रयोजनवश बोले, परिमित बोले।[1] बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले। चुगली न खाए और कपट-पूर्ण असत्य न बोले।[2] जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसा न बोले।[3] देखी हुई बात कहे, जोर से न बोले, स्वर-व्यजन आदि युक्त बोले, स्पष्ट बोले, भय रहित बोले।[4] पीठ पीछे अवर्णवाद तथा प्रत्यक्ष में वैर बढ़ाने वाले वचन न बोले।[5] कलह उत्पन्न करने वाली कथा न कहे।[6]

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावद्य और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय, हित, मित, मनोहर वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती है। किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति से बहुत आगे जाती है। ऋग्वेद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥[7]

—जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते है। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते है। विद्वानो के वचन मे मगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

महात्मा बुद्ध ने चार अगो से युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है।

ऐसा मैंने सुना एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओ को सम्बोधित कर कहा—"भिक्षुओ! चार अंगो से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, विज्ञो के अनुसार वह, निरवद्य है, दोषरहित है। कौन से चार अंग? भिक्षुओ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओ! इन चार अगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, वह विज्ञो के अनुसार निरवद्य तथा दोषरहित है।"

ऐसा बता कर बुद्ध ने फिर कहा

१—दशवैकालिक, ८।१९।
२—वही, ८।४६।
३—वही, ८।४७।
४—वही, ८।४८।
५—वही, ९।३।९।
६—वही, १०।१०।
७—ऋग्वेद, १०।७१।

"सन्तो ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले, न कि अधार्मिक वचन—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले, न कि अप्रिय वचन को—यह तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को—यह है चौथा।"

तब आयुष्मान् वगीस ने आसन से उठकर, एक कंधे पर चीवर सम्भाल कर भगवान् को हाथ जोड अभिवादन कर उन्हें कहा—"भन्ते! मुझे कुछ सूझता है।" भगवान् ने कहा—"वंगीस! उसे सुनाओ।" तब आयुष्मान् के सम्मुख अनुकूल गाथाओ में यह स्तुति की

"वह बात बोले जिससे न स्वय कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी बात सुन्दर है।"

"आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातो को छोड कर दूसरो को प्रिय वचन ही बोले।"

"सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित संतो ने (ऐसा) कहा है।"

"बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण-प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनो में उत्तम है।"[१]

१–सुत्तनिपात, सुभाषित सुत्त, १-५, पृष्ठ ८७-९।

५—एषणा

भिक्षा की एषणा क्यों और कैसे ?

मुनि माधुकरी वृत्ति से दान—भक्त की एपणा करे।[1] यह भोजन किसलिए किया है, किसने किया है—यह पूछ कर ग्रहण करे।[2] यदि पर्याप्त भोजन उपलब्ध न हो या प्राप्त हुए भोजन से भूख न मिटे तो और भोजन को गवेषणा करे।[3] मुनि समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए।[4] भिक्षा के लिए मुनि पुरुषकार करे।[5] उञ्छ की एपणा करे।[6] भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे लौट आए।[7] भिक्षा के लिए घर में प्रविष्ट मुनि गृहपति के द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि (अति-भूमि) में न जाए। जहाँ तक जाने मे गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हो उस (कुल-भूमि) में खडा रहे।[8] भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि कही न बैठे, खडा रह कर भी कथा का प्रवन्ध न करे।[9] भक्त-पान के लिए घर में जाते हुए श्रमण, ब्राह्मण, कृपण या वनीपक को लाँघ कर गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश न करे।[10] इनके चले जाने पर घर में प्रवेश करे।[11] राजा, गृहपति और आरक्षिको के मन्त्रणा-स्थान के पास न जाए।[12] निषिद्ध, मामक और अप्रीतिकर कुल में

१—दशवैकालिक, १।२,३।

२—वही, ५।१।५६।

३—वही, ५।२।२,३।

४—वही, ५।२।४,६।

५—वही, ५।२।६।

६—वही, ८।२३।

७—वही, ५।१।२३।

८—वही, ५।१।२४।

९—वही, ५।२।८।

१०—वही, ५।२।१०,१२।

११—वही, ५।२।१३।

१२—वही, ५।१।१६।

भोजन लेने न जाए।[1] तत्काल में लीपे हुए आँगन मे भोजन लेने न जाए।[2] गृहपति की आज्ञा लिए बिना शाणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को खोल भोजन लेने अन्दर न जाए।[3] नीचे द्वार वाले अन्धकारपूर्ण कोठे में तथा जहाँ पुष्प, बीज आदि बिखरे हो, वहाँ भोजन लेने न जाए।[4] भिक्षा, शयन, आसन आदि न देने पर गृहस्थ पर कुपित न हो।[5] दूसरों की प्रशसा करता हुआ याचना न करे।[6] वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो या मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हो तो भिक्षा लेने न जाए।[7] वेश्या-पाडे में भिक्षा लेने भी न जाए।[8] सामुदानिक भिक्षा करे—नीचे कुलो को छोड ऊँचे कुल में न जाए।[9]

भिक्षा कैसे ले ?

मुनि यथाकृत आहार ले।[10] अपने लिए बनाया हुआ, अपने निमित्त खरीदा हुआ, निमत्रण पूर्वक दिया हुआ, सम्मुख लाया हुआ भोजन न ले।[11] शय्यातर का भोजन न ले।[12] जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म को जता कर भिक्षा न ले।[13] भोजन आदि को गिराते हुए भिक्षा दे तो न ले।[14] प्राणि, बीज और हरियाली कुचलते हुए दे तो न ले।[15] सचित्त का सघट्टन कर दे तो न ले।[16] पुराकर्म-कृत, पश्चात्कर्म-कृत और असंसृष्ट भोजन न

१—दशवैकालिक, ५।१।१७।
२—वही, ५।१।२१।
३—वही, ५।१।१८।
४—वही, ५।१।२०,२१।
५—वही, ५।२।२७,२८।
६—वही, ५।२।२९।
७—वही, ५।१।८।
८—वही, ५।१।९।
९—वही, ५।२।२५।
१०—वही, १।४।
११—वही, ३।२।
१२—वही, ३।५।
१३—वही, ३।६।
१४—वही, ५।१।२८।
१५—वही, ५।१।२९।
१६—वही, ५।१।३०-३१।

ले।[१] गर्भवती स्त्री के लिए विशेष रूप से बनाया हुआ भोजन, जो वह खा रही हो न ले। खाने के बाद बचा हो वह ले।[२] पूरे मास वाली गर्भिणी के हाथ से भोजन न ले।[३] बालक या बालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री, बालक को रोता हुआ छोड़, भिक्षा दे, वह न ले।[४] विभिन्न द्रव्यों से ढके, लिपे और मूदे हुए पात्र का मुख खोल भिक्षा दे, वह न ले।[५] दान के निमित्त, पुण्य के निमित्त, वनीपक के निमित्त और श्रमण के निमित्त बनाया भोजन न ले।[६] पूतीकर्म—आधाकर्म आदि से मिश्र भोजन, अध्यवतर—अपने साथ-साथ साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन, प्रामित्य—साधु को देने के लिए उधार लिया हुआ भोजन और मिश्र-भोजन न ले।[७] मालापहृत भिक्षा न ले।[८] पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र, पानी, उत्तिंग और पनक पर रखा हुआ और अग्नि पर रखा हुआ भोजन न ले।[९] चूल्हे में इन्धन डाल कर, निकाल कर, चूल्हे को सुलगा कर या बुझा कर भिक्षा दे तो न ले। अग्नि पर रखे हुए पात्र से भोजन निकाल कर, छींटा देकर, चूल्हे पर पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर भोजन दे तो न ले।[१०] दूकान में रखी हुई चीजें, जो सचित्त रजों से स्पृष्ट हो, न ले।[११] जिसमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—वैसा पदार्थ न ले।[१२] फूल आदि सचित्त द्रव्यों को कुचल कर भिक्षा दे तो न ले।[१३] अपक्व हरित आदि न ले।[१४] एक बार भूजी हुई फली

१–दशवैकालिक, ५।१।३२-३५।
२–वही, ५।१।३८।
३–वही, ५।१।४१,४२।
४–वही, ५।१।४१,४३।
५–वही, ५।१।४५,४६।
६–वही, ५।१।४७-५४।
७–वही, ५।१।५५।
८–वही, ५।१।६७-६८।
९–वही, ५।१।५७-६२।
१०–वही, ५।१।६३,६४।
११–वही, ५।१।७१,७२।
१२–वही, ५।१।७४।
१३–वही, ५।२।१४,१७।
१४–वही, ५।२।१८,१९-२४।

न ले।[१] जिस वस्तु के दो स्वामी या भोक्ता हो, उनमें से एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह आहार न ले।[२] दोनो निमंत्रित करें तो ले।[३] गुड के घडे का धोवन, आटे का धोवन, जो तत्काल का धोवन (अधुनाधौत) हो न ले।[४] जिसका स्वाद, गंध और रस न बदला हो, विरोधी शस्त्र द्वारा जिसके जीव ध्वस्त न हुए हो तथा परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त-काल न हुआ हो, वह अधुनाधौत कहलाता है।[५] बहुत खट्टा पानी न ले। पानी को चखकर ले।[६] आगम-रचना-काल में साधुओ को यवोदक, तुषोदक, सौवीर, आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे। उनमें काजी की भाँति अम्लता होती थी। अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे। दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी। वैसे जलो से प्यास भी नही बुझती थी। इसलिए उन्हें चख कर लेने का विधान किया गया।

कैसे खाए ?

सामान्य विधि के अनुसार मुनि गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करे। किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढा, बुभुक्षित, तपस्वी हो या प्यास से पीडित हो तो उपाश्रय में आने से पहले ही भोजन कर सकता है। यह आपवादिक विधि है। इसका स्वरूप यह है—जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हो तो उनके पास आहार करे। यदि साधु न हो तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल, जो ऊपर से छाया हुआ हो और चारो ओर से संवृत हो, वहाँ जाए और आज्ञा लेकर भोजन के लिए बैठे। आहार करने से पूर्व 'हस्तक' (मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका) से समूचे शरीर का प्रमार्जन कर भोजन प्रारम्भ करे। भोजन करते समय यदि भोजन में गुठली, काटा, आदि निकले तो उन्हें उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ से एकान्त में रख दे।[७]

उपाश्रय में भोजन करने की विधि यह है कि मुनि भिक्षा लेकर उपाश्रय में आ

१—दशवैकालिक, ५।२।२०।
२—वही, ५।१।३७।
३—वही, ५।१।३८।
४—वही, ५।१।७५।
५—वही (भा० २), पृष्ठ २७२, टिप्पण १९३।
६—वही, ५।१।७८।
७—वही, ५।१।८२-८६।

सर्व प्रथम स्थान का प्रतिलेखन करे। तदनन्तर लाई हुई भिक्षा का विशोधन करे। उसमें जीव-जन्तु या कटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख दे।

उपाश्रय में विनयपूर्वक प्रवेश कर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढे, फिर कायोत्सर्ग करे। आलोचना करने मे पूर्व आचार्य की आज्ञा ले। आज्ञा प्राप्त कर आने-जाने मे, भक्त-पान लेने में लगे सभी अतिचारो को यथाक्रम याद कर, जो कुछ जैसे बीता हो, वह सब आचार्य को कहे और ऋजु बन आलोचना करे। यदि आलोचना करने में क्रम-भंग हुआ हो तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे। फिर शरीर को स्थिर बना—निरवद्य-वृत्ति और शरीर-धारण के प्रयोजन का चिन्तन करे। इस प्रचिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (लोगस्स) पढे, और क्षण भर के लिए विश्राम करे और जघन्यत तीन गाथाओं का स्वाध्याय करे। जो मुनि आन—प्राणलब्धि से सम्पन्न होते है, वे इस विश्राम काल में सम्पूर्ण चौदह-पूर्वी का परावर्तन कर लेते हैं। इस विश्राम से अनेक लाभ होते है। भिक्षाचरी मे इधर-उधर घूमने तथा ऊँचे-नीचे जाने से विशेष श्रम होता है। उससे शरीर की समस्त धातुएँ क्षुब्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे भोजन करने पर अनेक रोग उत्पन्न हो सकते है और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। विश्राम करने से इन सब दोषो से बचा जा सकता है। विश्राम करता हुआ वह यह सोचे—"यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें, मेरा भोजन ग्रहण करें तो मैं धन्य हो जाऊं।" फिर प्रेमपूर्वक साधर्मिक मुनियो को भोजन के लिए निमन्त्रित करे। उसके निमंत्रण को स्वीकार कर जो मुनि भोजन करना चाहें तो उनके साथ भोजन करे। यदि कोई निमंत्रण स्वीकार न करे तो अकेला ही भोजन करे।[1]

मुनि खुले पात्र में भोजन करे। भोजन करते समय नीचे न डाले।[2] अरस या विरस, आर्द्र या शुष्क, व्यजन-सहित या व्यंजन-रहित जो भी आहार भिक्षा में उपलब्ध हो, उसे मुनि मधु-घृत की भाँति खाए। उसकी निन्दा न करे।[3]

पात्र को पोछकर सब कुछ खा ले, जूठन न छोडे।[4] दूसरे संविभाग न ले लें—इसलिए भिक्षा को न छुपाए।[5] एकान्त में अच्छा-अच्छा भोजन कर अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए मण्डली में विरस आहार न करे।[6]

१—दशवैकालिक, ५।१।८७-९६।
२—वही, ५।१।९६।
३—वही, ५।१।९७-९८।
४—वही, ५।२।१।
५—वही, ५।२।३१।
६—वही, ५।२।३३-३४।

मुनि एक बार भोजन करे।[1] अप्रासुक भोजन न करे।[2] भोजन में गृद्ध न बने।[3] मुनि मात्रज्ञ—भोजन की मात्रा को जानने वाला हो। इसका तात्पर्य है कि वह प्रकाम-भोजी न हो। औपपातिक सूत्र में मुर्गी के अण्डे जितने बत्तीस कवल के आहार को प्रमाण प्राप्त भोजन कहा गया है। जो इस मात्रा से एक कवल भी कम खाता है, वह प्रकाम-रस-भोजी नही होता।[4] भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में आयुर्वेद का अभिमत यह है—उदर के चार भाग (कल्पना) करे—इसमें से दो भाग अन्न से और एक भाग द्रव-पदार्थ से भरे। वात आदि के आश्रय के लिए चतुर्थ भाग को छोड देवे (पूरा पेट भर कर के भोजन न करे, भोजन की गति के लिए स्थान रहने देना चाहिए')।[5]

१—दशवैकालिक, ६।२२।

२—वही, ८।२३।

३—वही, ८।२३।

४—सू० १९।

५—अष्टागहृदय, सूत्रस्थान, ८।४६-४७

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रय पवनादीनां चतुर्थमवशेषयत्॥

६–इन्द्रिय और मनोनिग्रह

दशवैकालिक में इन्द्रिय और मन को जीतने के लिए निम्न उपाय प्राप्त होते हैं

१ जिसके प्रति राग उत्पन्न हुआ हो उसके प्रति यह चिन्तन करे—वह मेरी नही है, मैं भी उसका नही हूँ—इस भेद-चिन्ता से राग दूर होता है।[१]

२ राग निवारण के लिए मुनि आतापना ले (सूर्य का ताप सहे), सुकुमारता को छोडे, इच्छाओ का अतिक्रमण करे, द्वेष और राग से बचे।[२]

३ मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, पाँच इन्द्रियो का निग्रह करे।[३]

४ जो पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष को जान लेता है, वह भोग से विरक्त हो जाता है इसलिए उन्हें जाने।[४]

५ रूप मे मन न करे।[५]

६. कर्णप्रिय शब्दो में आसक्त न बने।[६]

७ कछुए की भाँति इन्द्रियो का गोपन करे।[७]

८ मनोज्ञ विषयो में प्रेम न करे।[८]

९ स्वाध्याय और ध्यान में रत रहे।[९]

१० ममकार का विसर्जन करे।[१०]

११ इन्द्रियो को जीते।[११]

१२ चित्त को समाधान दे।[१२]

१३ मन का सवरण करे।[१३]

१४ इन्द्रियो को समाधान दे।[१४]

१–दशवैकालिक, २।४।
२–वही, २।५।
३–वही, ३।११।
४–वही, ४। १६।
५–वही, ८।१९।
६–वही, ८।२६।
७–वही, ८।४०।
८–दशवैकालिक, ८।५८।
९–वही, ८।६२।
१०–वही, ८।६३।
११–वही, ९।३।१३।
१२–वही, १०।१।
१३–वही, १०।७।
१४–वही, चूलिका २।१६।

७–स्थिरीकरण

जैन-दीक्षा अखण्ड और अविभक्त होती है। उसमें काल का भी व्यवधान नही होता। वह आजीवन ग्रहण की जाती है। जीवन के इस दीर्घ-काल में साधना-भाव के आरोह-अवरोह को अस्वाभाविक नही माना जा सकता। अवरोह अनादेय अवश्य है, पर मानवीय दुर्बलताओ के कारण वह प्रगट होता है और साधना की तीव्रता से वह मिट जाता है। जब साधना से पलायन करने के भाव उत्पन्न होते हैं तब साधक को किन-किन अवलम्बनो के द्वारा अपनी साधना में स्थैर्यापादन करना चाहिए, उन्ही का निर्देश यहाँ किया गया है। वे अवलम्ब १८ है। साधक को इस प्रकार सोचना चाहिए कि[1]

१ इस कलिकाल में आजीविका चलाना अत्यन्त कष्ट-प्रद है।
२ गृहस्थो के काम-भोग तुच्छ और क्षणभंगुर है।
३ सासारिक मनुष्य माया-प्रधान है।
४ मेरा यह दु ख चिरस्थायी नही होगा।
५ गृहस्थो को नीच व्यक्तियो का भी सत्कार-सम्मान करना पडता है।
६ संयम को छोडने का अर्थ है वमन को पीना।
७ सयम को छोड गृहस्थ वनने का अर्थ है नारकीय जीवन की स्वीकृति।
८ गार्हस्थिक झंझटो में धर्म का स्पर्श दुर्लभ है।
९-१० सकल्प और आतंक वध के लिए होता है।
११ गृहवास क्लेश-सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।
१२ गृहवास वन्धन है और मुनि-पर्याय मुक्ति।
१३ गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय निरवद्य।
१४ गृहस्थों के कामयोग सर्व-सुलभ हैं।
१५ सुख या दु ख अपना-अपना होता है।
१६ मनुष्य जीवन चंचल है और अनित्य है।
१७ मैंने इससे पूर्व भी अनेक पाप किए है।
१८ कर्म को भोगे विना छुटकारा नही मिलता।

१–दशवैकालिक, चूलिका १।सू०१।

८–किसलिए ?

१ महर्षि—मुनि सब दु खो को क्षीण करने के लिए प्रयत्न करे।[1]

२ मुनि पाँच महाव्रतो को आत्महित के लिए स्वीकार करते है।[2]

३ मुनि विनय का प्रयोग आचार-प्राप्ति के लिए करते है।[3]

४ मुनि केवल जीवन-यापन के लिए भिक्षा लेते है।[4]

५ मुनि वस्त्र-पात्र आदि का ग्रहण और उपयोग जीवन के निर्वाह के लिए तथा लज्जा निवारण के लिए करते है।[5]

६ मुनि वचन प्रहार आदि को अपना धर्म—कर्त्तव्य समझ कर सहन करते है।[6]

७ मुनि ज्ञान-प्राप्ति के लिए अध्ययन करते है, एकाग्र-चित्त होने के लिए अध्ययन करते ह, आत्मा को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते है और दूसरो को (धर्म में) स्थापित करने के लिए अध्ययन करते हैं।[7]

८ मुनि भौतिक सुख-सुविधा के लिए तप नही करते, परलोक कीस मृद्धि के लिए तप नहीं करते, श्लाघा-प्रशंसा के लिए तप नही करते, केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करते है।[8]

९ मुनि इहलोक की भौतिक समृद्धि के लिए आचार का पालन नही करते।
मुनि परलोक की समृद्धि के लिए आचार का पालन नही करते।
मुनि श्लाघा-प्रशंसा के लिए आचार का पालन नही करते।
मुनि केवल आत्म-शुद्धि के लिए आचार का पालन करते है।[9]

१–दशवैकालिक ३।१३।
२–वही, ४।सू०१७।
३–वही, ९।३।२।
४–वही, ९।३।४।
५–वही, ६।१९।
६–वही, ९।३।८।
७–वही, ९।४सू० ५।
८–वही, ९।४सू० ६।
९–वही, ९।४सू० ७।

१० मुनि अनुत्तर गुणो तथा अनन्त हित के सम्पादन के लिए गुरु की आराधना करते है ।[1]

११ सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिए मुनि प्राण-वध का वर्जन करते है ।[2]

१२ मृषावाद सज्जन व्यक्तियो द्वारा गर्हित है और यह अविश्वास को उत्पन्न करता है, इसलिए मुनि मृषावाद का वर्जन करते हैं ।[3]

१३ अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महान् दोषो की खान है, इसलिए मुनि उसका वर्जन करते हैं ।[4]

१४ रात्रि में एषणा का निर्वाह नही हो सकता, ईर्या-समिति का शोधन नही हो सकता, इसलिए मुनि रात में भोजन नही करते ।[5]

१—दशवैकालिक, ९।१।१६,९।२।१६ ।

२—वही, ६।१० ।

३—वही, ६।१२ ।

४=वही, ६।१६ ।

५—वही, ६।२३-२५ ।

६—विनय

दशवैकालिक के अध्ययन ९ के प्रथम उद्देशक मे शिष्य का आचार्य के प्रति कैसा वर्तन हो इसका निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में विनय और अविनय का भेद दिखलाया गया है। चतुर्थ उद्देशक में विनय-समाधि का उल्लेख किया गया है। अन्यत्र भी विनय का उपदेश है। सब का सार इस प्रकार है—

बडो का विनय करे।[1] गुरु को मन्द, अल्प-वयस्क या अल्पश्रुत जान कर उनकी आशातना न करे।[2] सदा गुरु का कृपाकाक्षी बना रहे।[3] जिससे धर्म-पद सीखे उसका विनय करे, सत्कार करे, हाथ जोडे।[4] जो गुरु विशोधि-स्थलो की अनुशासना दे, उसकी पूजा करे।[5] गुरु की आराधना करे, उन्हे सन्तुष्ट रखे।[6] मोक्षार्थी मुनि गुरु के वचनो का अतिक्रमण न करे।[7] गुरु से नीचा बैठे, नीचे खडा रहे, नीचे आसन बिछाए, नीचे झुक कर प्रणाम करे।[8] गुरु के उपकरणो या शरीर का स्पर्श न करे। ऐसा हो जाने पर तत्काल क्षमा-याचना करे और पुन ऐसा न करने का संकल्प करे।[9] गुरु के अभिप्राय और इगित को समझ कर वरते।[10] गुरु के समीप रहे। गुरु के अनुशासन को श्रद्धापूर्वक सुने। अनुशासन को श्रद्धा से स्वीकार करे। गुरु के आदेशानुसार वरते। अभिमान न करे।[11]

१—दशवैकालिक, ८।४० ।
२—वही, ९।१।२ ।
३—वही, ९।१।१० ।
४—वही, ९।१।१२ ।
५—वही, ९।१।१३ ।
६—वही, ९।१।१६ ।
७—वही, ९।२।१६ ।
८—वही, ९।२।१७ ।
९—वही, ९।२।१८ ।
१०—वही, ९।२।२० ।
११—वही, ९।४सू०४ ।

१०–पूज्य कौन ?

पूज्य कौन ? यह प्रश्न महाभारत-कालीन है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था—
"के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ।" (महा० अनु० ३१।१)

उत्तर में गुणवान् ब्राह्मण को पूज्य बताया गया है। उत्तर जाति की महत्ता का सूचक है।

दशवैकालिक में पूज्य के गुण और लक्षणो का बडा सुन्दर विवेचन हुआ है। इसके अनुसार गुणवान मनुष्य ही पूज्य है। पूज्य कौन ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है—

पूज्य वह होता है :

जो आचार्य की शुश्रूषा करता है, उनकी आराधना करता है।
जो आचार्य के वचनानुकूल आचरण करता है।
जो गुरु की आशातना नही करता।
जो छोटे या बडे—सबके प्रति विनम्र रहता है।
जो केवल जीवन-निर्वाह के लिए उञ्छ भिक्षा लेता है।
जो अल्प-इच्छा वाला होता है, आवश्यकता मे अधिक नही लेता।
जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को अपना धर्म मान कर सहता है।
जो पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा से दूर रहता है।
जो रस-लोलुप नही होता, जो माया और कुतूहल नही करता।
जो न दीन बनता है और न उत्कर्ष दिखाता है।
जो आत्मवित् है—आत्मा को आत्मा से समझता है।
जो राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि से दूर रहता है।
जो दूसरो के विकास में मतत प्रयत्नशील रहता है।
जो मुक्त होने के लिए साधना-रत रहता है।[१]

१–दशवैकालिक, अ० ९ उ० ३।

११–भिक्षु कौन ?

भिक्षु कौन ? यह प्रश्न वैदिक, बौद्ध और जैन —तीनो संस्कृतियो मे अपनी-अपनी परम्परा और दृष्टिकोण मे चर्चित है। दशवैकालिक में इसका उत्तर देते हुए कहा है— भिक्षु वह होता है :

जो वमन किए हुए भोगो को पुन नही पीता—स्वीकार नही करता।
जो स्थावर या त्रस—किसी प्राणी की हिंसा नही करता।
जो सभी प्राणियो को आत्म-तुल्य समझता है।
जो अकिंचन, जितेन्द्रिय और आत्म-लीन होता है।
जो अर्हत्-वचन मे विश्वास करता है।
जो सम्यग्-दृष्टि होता है।
जो अमूढ होता है।
जो खान-पान का सग्रह नही करता।
जो सविभागी होता है।
जो सदा शान्त और प्रसन्न रहता है।
जो दूसरों का तिरस्कार नही करता।
जो सुख-दुःख में सम रहता है।
जो शरीर का परिकर्म नही करता।
जो सहिष्णु, अनिदान और अभय होता है।
जो अध्यात्म मे रत और समाधि-युक्त होता है।
जो किसी भी वस्तु में ममत्व नही करता।
जो समस्त आसक्तियों से रहित होता है।
जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा का अर्थी नहीं होता।
जो जाति, रूप, श्रुत और ऐश्वर्य का मद नही करता।
जो ध्यान और स्वाध्याय मे लीन होता है।[१]

१–अ०१०।

१२—मुनि के विशेषण

दशवैकालिक में मुनि के लिए अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। वे सब मुनि के मानसिक, वाचिक और कायिक संयम के निर्देशक हैं। कुछ एक विशेषणो से तात्कालिक स्थितियों पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है।

दसवें अध्ययन में 'निर्जातरूपरजत'—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू॥ (१०।६)

इसका अर्थ है कि मुनि सोना-चाँदी का सचय न करे। उस समय कई श्रमण सोना-चाँदी का सचय भी करने लग गए थे। कई श्रमण इस प्रवृत्ति को धर्म-सम्मत नही मानते थे।

चुल्लवग्ग मे उन दस बातो का वर्णन है, जिन्हें वज्जी के भिक्षु करते थे, पर यश की मान्यता थी कि वे धर्म-सम्मत नही हैं। उन दस बातों में "जातरूपरजतम्" का भी उल्लेख हुआ है। भिक्षु जिनानन्द ने उन दस बातों की चर्चा करते हुए लिखा है

"चुल्लवग्ग में लिखा है कि वज्जी के भिक्षु दस बातें (दस वत्थूनि) ऐसी करते थे जिन्हें काकण्डकपुत्र यश धर्म-सम्मत नही मानता था। वह उन्हें अनैतिक और अधर्मपूर्ण मानता था। वज्जी के भिक्षुओ ने यश को 'पटिसारणीय कम्म' का दण्ड देने का आदेश दिया। यश को अपना पक्ष समर्थन करना पडा। जनसाधारण के सामने उसने अपनी बात अद्भुत वक्तृत्व-कौशल मे रखी। इस पर वज्जियों ने 'उपेक्खणीय कम्म' नामक दड उसे सुनाया, जिसका अर्थ था यश का सघ मे निष्कासन।

उपर्युक्त दस वस्तुएँ चुल्लवग्ग में इस प्रकार से दी गई है :

१. सिंगिलोण कप्प—अर्थात् एक खाली सींग में नमक ले जाना। यह पाचित्तिय ३८ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार खाद्य संग्रह नही करना चाहिए।

२ द्वागुल कप्प—जब छाया दो अंगुल चौड़ी हो तब भोजन करना। यह पाचित्तिय ३७ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार मध्यान्ह के बाद भोजन निषिद्ध था।

३ गामन्तर कप्प—एक ही दिन में दूसरे गाँव में जाकर दुबारा भोजन करना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

४. आवास कप्प—एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ विधि करना। यह महावग्ग के नियमो के विरुद्ध था।

५ अनुमति कप्प—किसी कर्म को करने के बाद उसके लिए अनुमति प्राप्त कर लेना। यह भी भिक्षु-शासन के विरुद्ध था।

६ आचिण्ण कप्प—रूढियो को ही शास्त्र मान लेना। यह भी उपर्युक्त कोटि का कर्म था।

७ अमथित कप्प—भोजन के बाद छाछ पीना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

८ जलोगिम्पातुम्—ताडी पीना। यह पाचित्तिय ५१ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध था।

९ अदसकम्-निशिदानम्—जिसके किनारे न हो ऐसे कम्बल या रजाई का उपयोग करना। यह पाचित्तिय ८९ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार बिना किनारे की चादर निषिद्ध थी।

१० जातरूपरजतम्—सोने और चाँदी का स्वीकार करना। यह निस्सग्गिय पाचित्तिय के १८वें नियम के अनुसार निषिद्ध था।

भदन्त यश ने ये सब व्यवहार अधर्मशील बतलाए। उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।"[१]

दशवैकालिक में भिक्षु के ६२ विशेषण प्राप्त होते है, जिनकी सन्दर्भ-सहित तालिका इस प्रकार है—

१—बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, "आजकल" का वार्षिक अंक दिसम्बर, १९५६ पृष्ठ ३०-३१।

१—महर्षि-महैषी। (३।१०)
२—परिज्ञातपंचास्रव। (३।११)
३—त्रिगुप्त। ,,
४—षट्निग्रहण। ,,
५—धीर। ,,
६—निर्ग्रन्थ। ,,
७—ऋजुदर्शी। ,,
८—लघुभूतविहारी। (३।१०)
९—संयत। (३।१२)
१०—सुसमाहित। ,,
११—दान्तपरिषहरिपु। (३।१३)
१२—धुतमोह। ,,
१३—सर्वभूतात्मभूत। (४।९)
१४—पिहितास्रव। ,,
१५—दान्त। ,,
१६—सुप्रणिहितेन्द्रिय। (५।२।५०)
१७—तीव्रलज्ज गुणवान्। ,,
१८—निभृत। (६।३)
१९—सर्वभूतसुखावह। ,,
२०—धर्मार्थिकाम। (६।४)
२१—विपुलस्थानभागिन्। (६।५)
२२—अमोहदर्शी। (६।६७)
२३—स्वविद्यविद्यानुगत। (६।६८)
२४—मुधाजीवी। (८।२४)
२५—रुक्षवृत्ति। (८।२५)
२६—सुसतुष्ट। ,,
२७—अल्पेच्छ। ,,
२८—सुभर। ,,
२९—अतितिण। (८।२९)
३०—अचपल। ,,
३१—अल्पभाषी। ,,
३२—मिताशन। (८।२९)
३३—अनलस। (८।४२)
३४—जितेन्द्रिय। (८।४४)
३५—आलीनगुप्त। ,,
३६—दुःखसह। (८।६३)
३७—अमम। ,,
३८—अकिंचन। ,,
३९—आचारवान्। (९।१।३)
४०—सुस्थितात्मा। ,,
४१—अनाबाधसुखाभिकाक्षी। (९।१।१०)
४२—निर्देशवर्ती। (९।२।२३)
४३—सूत्रार्थधर्मा। ,,
४४—जिनमत-निपुण। (९।३।१५)
४५—अभिगमकुशल। ,,
४६—निर्जातरूपरजत। (१०।६)
४७—सम्यग्दृष्टि। (१०।७)
४८—अमूढ। ,,
४९—संयमध्रुवयोगयुक्त। (१०।१०)
५०—उपशान्त। ,,
५१—अविहेठक। ,,
५२—व्युत्सृष्टत्यक्तदेह। (१०।१३)
५३—अनिदान। ,,
५४—अकौतूहल। ,,
५५—अध्यात्मरत। (१०।१५)
५६—सुसमाहितात्मा। ,,
५७—सर्वसंगापगत। ,,
५८—स्थितात्मा। (१०।१७)
५९—धर्मध्यानरत। (१०।१९)
६०—अमद्यमासाशी। (चू०२।७)
६१—अमत्सरी। ,,
६२—प्रतिबुद्धजीवी। (२।१५)

१३—मोक्ष का क्रम

जैन साधना-पद्धति जीव-विज्ञान से प्रारम्भ होती है और आत्म स्वरूप-प्राप्ति में पर्यवसित हो जाती है। साधना का आधार संयम है। वह जीव और अजीव के विवेक ज्ञान पर आधारित है। जो जीव-अजीव को जानता है, वह संयम को जानता है और जो इन्हें नही जानता, वह सयम को भी नहीं जानता। इसमें इसी क्रम से मोक्ष तक के मार्ग को स्पष्ट किया है, वह यो है[1]

१—जीव और अजीव का ज्ञान।

२—जीवो की गति का ज्ञान।

३—बन्धन और मुक्ति का ज्ञान।

४—भोग-विरति।

५—आभ्यन्तर और बाह्य-सयोगों का परित्याग।

६—अनगार-वृत्ति का स्वीकरण।

७—संवर की साधना।

८—आत्म-गुणावरोधक कर्मों का निर्मूलन।

९—केवलज्ञान और केवलदर्शन की संप्राप्ति।

१०—योग-निरोध—शैलेशी अवस्था की प्राप्ति।

११—सम्पूर्ण कर्म-क्षय।

१२—शाश्वत सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति।[1]

१—दशवैकालिक, ४।१२-२५।

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय ५

व्याख्या-ग्रन्थों के संदर्भ में

१—व्याख्या-ग्रन्थ परिचय

दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। उसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्धरण-स्थल, अध्ययनो के नाम, उनके विषय आदि का सक्षेप में बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओ का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते हैं। इनका काल-मान विक्रम की पाँचवी-छठीं शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नही किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलो में प्रयोग करते हैं।[1] टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाएँ है। इसके कर्त्ता की जानकारी नही है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नही किया है।[2] वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले हुए है।

हरिभद्र सूरि ने जिन गाथाओ को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि में है। इससे जान पडता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती हैं।

इसके वाद चूर्णियाँ लिखी गई है। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त है। एक के कर्त्ता अगस्त्यसिंह स्थविर है और दूसरी के कर्त्ता जिनदास महत्तर (वि० की ७ वी शताब्दी)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार अगस्त्यसिंह चूर्णि का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[3]

१—(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र ६४ :
भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति।

(ख) वही, पत्र १२० :
आह च भाष्यकारः।

(ग) वही, पत्र १२८ व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय। इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें—हारिभद्रीय टीका, पत्र १२३,१२५,१२६,१२९,१३३,१३४, १४०,१६१,१६२,२७८।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र १३२
एतामेव निर्युक्तिगाथा लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकार। एतदपि नित्यत्वाविप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः।

३—बृहत्कल्प भाष्य, भाग—६, आमुख पृष्ठ ४।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थो का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएँ भाष्य है। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुन अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रखने की औत्सर्गिक और आपवादिक—दोनो विधियों की चर्चा की है।[1] इस चर्चा का आरम्भ देवर्द्धिगणी ने आगम पुस्तकारूढ किए तब या उसके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की ५वी-६ठी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियों के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नही है। उसके अवशेष हरिभद्र सूरि की टीका में मिलते है।[2]

प्राकृत युग समाप्त हुआ और सस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ सस्कृत

१—दशवैकालिक, १।१ अगस्त्य चूर्णि :
उवगरणसंजमो–पोत्थएसु घेप्पंतेसु असंजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जणं तु संजमो, कालं पडुच्च चरणकरणट्ठं अव्वोछित्तिनिमित्तं गेण्हंतस्स संजमो भवति।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र १६५ :
तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उण्णिक्खमणेण त्ति।
जिनदास चूर्णि (पृष्ठ १७१) में इस आशय की जो पंक्तियाँ हैं, वे इन पंक्तियो से भिन्न हैं। जैसे—"जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया, भवंति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—किं जोएसि ?, ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउं अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।"
अगस्त्य चूर्णि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—तस्स पीडा वयाण तासु गयचित्तो रियं न सोहेतित्ति पाणातिवातो पुच्छितो किं जोएसित्ति ? अवलवति मुसावातो, अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहिं मिहुणे वि गयभावो मुच्छाए परिग्गहो वि।

भाषा में लिखी जाने लगीं। इस पर हरिभद्र सूरि ने सस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है।

यापनीय सघ के अपराजित सूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवी शताब्दी) ने इस पर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होंने स्वरचित आराधना की टीका में किया है।[1] परन्तु वह अभी उपलब्ध नही। हरिभद्र सूरिकी टीकाको आधार मान कर तिलकाचार्य (विक्रम की १३-१४ वी शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वी शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयसुन्दर (विक्रम की १६११) ने दीपिका, विनयहंस (विक्रम सं० १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्र सूरि (विक्रम सं० १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्र सूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम की १८वी शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नही है। ये सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए है। इसकी महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही हैं—दो चूर्णियाँ और तीसरी हारिभद्रीय वृत्ति।

—

१—गाथा ११९७ की वृत्ति.

दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयाया प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।

२—व्याख्यागत प्राचीन परम्पराएँ

दशवैकालिक के व्याख्या-ग्रन्थों में अनेक प्राचीन परम्पराओ का उल्लेख है। कुछ इस प्रकार है

१—एक बार शिष्य ने पूछा—"जैन-शासन में पाँच महाव्रत प्रसिद्ध है तो फिर रात्रि-भोजन का वर्जन महाव्रतो के प्रकरण में क्यो ?" आचार्य ने कहा—"प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तत्कालीन जन-मानस की दृष्टि से ऐसी प्रस्थापना की गई है। प्रथम तीर्थंकर के काल में मनुष्य ऋजु-जड थे और अन्तिम तीर्थंकर के काल मे वक्र-जड। इसीलिए इस व्रत को महाव्रतो के प्रकरणो में स्थापित कर दिया गया ताकि वे इसे महाव्रत के रूप में मानते हुए इसका भंग न करें। शेष बाईस तीर्थंकरो के काल में यह उत्तर-गुण की कोटि में था।"

शिष्य ने पूछा—"यह क्यो ?" आचार्य ने कहा—"मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो के काल मे मनुष्य ऋजु-प्राज्ञ थे। वे रात्रि-भोजन का सहज भाव से परित्याग कर देते थे।"[1]

२—भिक्षा ग्रहण की विधि में भी स्थविर-कल्पिक और जिन-कल्पिक मुनियो में भिन्नता है। जिस स्त्री के गर्भ का नौवाँ मास चल रहा हो, ऐसी काल-मासवती स्त्री से स्थविर-कल्पिक मुनि भिक्षा ग्रहण कर लेते है परन्तु जिन-कल्पिक मुनि जिस दिन से स्त्री गर्भवती होती है, उसी दिन से उसके हाथ से भिक्षा लेना बन्द कर देते है।[2]

३—स्तनजीवी बालक को स्तन-पान छुडा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ से भिक्षा नही लेते। यदि वह बालक कोरा स्तनजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोडने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्तनजीवी बालक चाहे स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में भी गच्छवासी मुनि भिक्षा नहीं लेते।

गच्छ-निर्गत मुनि स्तनजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए स्तन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नही लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्तन-पान करते हुए को छोड कर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नही लेते और यदि वह स्तन-पान न

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १५३।

२—वही, पृष्ठ १८०।

जा पुण कालमासिणी पुव्वुट्ठिया परिवेसेंती य थेरकप्पिया गेण्हति, जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्धं परिहरंति।

कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नहीं लेते। यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं।[1]

शिष्य ने पूछा—"बालक को रोते छोड कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है ?" आचार्य ने कहा—"बालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एवं कठोर हाथों से उठाने से बालक में अस्थिरता आती है। इससे परिताप दोष होता है। बिल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है।"[2]

१—(क) अगस्त्य चूर्णि

गच्छवासीण थणजीवी थणं पियतो निक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहण, अह अपिवतो णिक्खित्तो रोवते (अग्गहणं, अरोवंते) गहणं, अह भत्तं पि आहारेति तं पिबंते निक्खित्ते रोवंते अग्गहणं, अरोवंते गहण। गच्छनिग्गत्ताण थणजीविम्मि णिक्खित्ते पिबते (अपिवंते) वा रोवते (अरोयंते) वा अग्गहणं, भत्ताहारे पिबते निक्खित्ते रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्गहणं, अपिबंते रोयमाणे अग्गहण, अरोयमाणे गहण।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १८०

तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति रोवतु वा मा वा, अह अन्नंपि आहारेति तो जति न रोवइ तो गेण्हंति, अह अपियंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हति, गच्छनिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा अपियंतओ पियंतिओ वा न गेण्हंति, जाहे अन्नंपि आहारेउं पयत्तो भवति ताहे जइ पियंतओ तो रोवद मा वा ण गेण्हंति, अपियन्तओ जदि रोवइ परिहरंति अरोवंते गेण्हंति।

(ग) हारिभद्रीय टीका, पत्र १७२

चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ 'अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्धृत किया है।

२—(क) अगस्त्य चूर्णि

एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहि हत्थेहि सयणीए वा पीडा, मज्जारातीवा खाणावहरणं करेज्जा।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १८०-८१

सीसो आह—को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो मज्जाराइ वा अवधरेज्जा।

(ग) हारिभद्रीय टीका, पत्र १७२।

(४) स्थविर-कल्पिक मुनि प्रमाण युक्त केश, नख आदि रखते है। जिन-कल्पिक मुनि के केश और नख दीर्घ होते हैं।[1]

(५) अग्नि की मद आँच से पकाया जाने वाला अपक्वपिष्ट एक प्रहर में परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है।

(६) कुहरा प्राय शिशिर ऋतु—गर्भ मास में पडा करता है।

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २३२ :

दीहाणि रोमाणि कक्खीवत्थगंधादीसु णहावि अलत्तयपाडणपायोगा, ण छज्जंति ते दीहा धारेउं, जिणकप्पियादीण दीहावि।

३—आहार-चर्या

दशवैकालिक एक आचार-शास्त्र है, इसलिए उसके व्याख्या-ग्रन्थ उसी मर्यादा के प्रतिनिधि हो, यह अस्वाभाविक नही है। जो आचार-संहिताएँ बनती हैं, वे देश-काल और पारिपार्श्विक वातावरण को अपने-अपने कलेवर में समेटे हुए होती हैं। यही कारण है कि उनसे हमें मूल प्रतिपाद्य के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इतिहास-ग्रन्थ जैसे आचार-संहिताओं के परोक्ष स्रोत होते हैं, वैसे ही आचार-ग्रन्थ इतिहास के परोक्ष स्रोत होते हैं। दशवैकालिक और उसके व्याख्या-ग्रन्थ ऐतिहासिक ग्रन्थ नही हैं फिर भी उनमें भारतीय इतिहास के अनेक तथ्य उपलब्ध होते है। व्याख्या-कारों ने विषय का स्पर्श करते हुए अपने अध्ययन का प्रचुर उपयोग किया है। उनके बाहुश्रुत्य के साथ-साथ अनेक नवीन ज्ञान-स्रोत प्रवाहित हुए है।

निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने साधु की चर्या और कर्त्तव्य-विधि का जिस उदाहरण शैली में निरूपण किया है, वह रसात्मक ही नहीं, प्राणि-जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण को कुशाग्रीय बनाने वाली भी है।

इस सूत्र के पहले अध्ययन का नाम 'द्रुम-पुष्पिका' है। इसमें मुनि आहार कैसे ले और कैसा ले—इन दो प्रश्नो का स्पष्ट निरूपण है। किन्तु वह आहार किसलिए ले, कैसे खाए और उसका फल क्या है—इन प्रश्नों का स्पष्ट निरूपण नही है। निर्युक्तिकार ने इन स्पष्ट और अस्पष्ट प्रश्नो का संक्षेप में बडी मार्मिकता से स्पर्श किया है। चूर्णि और टीका मे निर्युक्तिकार के वक्तव्य को कुछ विस्तृत शैली में समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने द्रुम-पुष्पिका अर्थात् मुनि की आहार-चर्या के चौदह पर्यायवाची नाम बतलाए हैं[1]

१—द्रुम-पुष्पिका	८—सर्प
२—आहार-एषणा	९—व्रण
३—गोचर	१०—अक्ष
४—त्वक्	११—तीर
५—उञ्छ	१२—गोला
६—मेष	१३—पुत्र
७—जलूक	१४—उदक

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३७।

इनमें १,२,३,५,६,७,११ और १२ का विषय है—मुनि आहार कैसा ले और कैसे ले ?, ८ का विषय है—मुनि कैसे खाए ?, ६,१० और १३ का विषय है—मुनि किसलिए खाए ? और ४,१३,१४ का विषय है—भोजन करने का फल क्या है ?

१ द्रुमपुष्पिका

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम के पुष्प, जो अकृत और अकारित होते है, को म्लान किए विना रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण भी अपने लिए अकृत और अकारित तथा गृहस्थो को क्लान्त किए विना, आहार ग्रहण करे।[1]

२ आहार-एषणा

इसमें तीनो एषणाओ—गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का ग्रहण किया है। मुनि उद्‌गम के १६ दोष, उत्पादन के १६ दोष और एषणा के १० दोषो से रहित भिक्षा ले।[2]

३ गोचर

एक वणिक् के घर एक छोटा बछडा था। वह सबको बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-सभाल करते थे। एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ। सारे लोग उसमें लग गए। बछडे को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूख और प्यास के मारे रभाने लगा। कुल-वधू ने उसको सुना। वह घास और पानी को लेकर गई। घास और पानी को देख बछडे की दृष्टि उन पर टिक गई। उसने कुल-वधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नही। उसके मन में विचार तक नही आया कि उसके रूप-रंग और शृंगार को देखे।

इसका सार यह है कि बछडे की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चंचल चित्त हो गमन न करे।[3]

४. त्वक् :

घुण चार प्रकार के होते हैं —

(१) त्वक् खादक (३) काष्ठ-खादक

(२) छल्लि खादक (४) सार-खादक

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १२ :

जहा भमरो दुमपुप्फेहितो अकयमकारियं पुप्फं अकिलामेन्तो आहारेति, एव अकयमकारियं निरुवधं गिहत्याणं अपीलयं आहारं गेण्हइ।

२—वही, पृष्ठ १२ तथा दशवैकालिक (भा०-२), पृष्ठ १९४,९५,९६।

३—वही, पृष्ठ १२।

इसी प्रकार भिक्षु भी चार प्रकार के होते हैं

(१) कई भिक्षु त्वक् खादक होते है पर सार खादक नही।

(२) कई भिक्षु सार खादक होते हैं पर त्वक् खादक नहीं।

(३) कई भिक्षु त्वक् खादक होते हैं और सार खादक भी।

(४) कई भिक्षु न त्वक् खादक होते हैं और न सार खादक।

जो भिक्षु त्वचा को खाने वाले घुण के समान होता है, उसके सार को खाने वाले घुण के समान तप होता है।

जो भिक्षु सार को खाने वाले घुण के समान होता है, उसके त्वचा को खाने वाले घुण के समान तप होता है।

जो भिक्षु छाल को खाने वाले घुण के समान होता है, उसके काठ को खाने वाले घुण के समान तप होता है।

जो भिक्षु काठ को खाने वाले घुण के समान होता है, उसके छाल को खाने वाले घुण के समान तप होता है।

५ उञ्छ :

मुनि अज्ञात पिण्ड ले, पूर्व सूचना के विना ले, जाति आदि का परिचय दिए विना ले।[1]

६ मेष :

जिस प्रकार मेष पानी को हिलाए-डुलाए विना ही पी लेता है और अपनी प्यास बुझा लेता है, उसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि भी वीज, हरित आदि को लांघते समय हलफल न करे। ऐसी कोई उतावल न करे, जिससे दाता मूढ बन जाए। वह वीज आदि का अतिक्रमण करता हो तो उसे धैर्य से जताए, जिससे वह उनपर पैर भी न रखे और मूढ भी न बने।[2]

७ जलूक :

जोक जैसे मृदुता से रक्त खींच लेती है, वैसे ही अविधि से देने वाले दाता के दोष का मृदु-वचनो से निवारण करे।[3]

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १२।

२—वही, पृष्ठ १२.

जहा मेसो अणायुगाणिंतो पिवेति एवं साहुणावि भिक्षापविट्ठेण वीयक्कमणादि ण तहा हल्लफलयं कायव्वं जहा भिक्खाए दाया मूढो भवइ, सो वा तेण वारेयव्वो जेण परिहरइ।

३—वही, पृष्ट १२।

८ सर्प :

जिस प्रकार सर्प झट से बिल में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार मुनि भी मुँह में क्षिप्त कवल को स्वाद के लिए इधर-उधर घुमाए बिना झट से निकल जाए।[1]

९. व्रण :

जिस प्रकार व्रण को शान्त करने के लिए उस पर लेप किया जाता है, उसी प्रकार अधैर्य को शान्त करने—धृति की सुरक्षा के लिए मुनि आहार करे, रूप आदि को बढाने के लिए नही।[2]

१० अक्ष :

जिस प्रकार यात्रा को निर्बाध-रूप से सम्पन्न करने के लिए गाडी के पहियो में तेल चुपडा जाता है, उसी प्रकार संयम-भार को वहन करने के लिए मुनि आहार करे।[3]

११ तीर :

जिस प्रकार रथिक अपने लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे बीध सकता है, अन्यथा नही, उसी प्रकार भिक्षा के लिए घूमता हुआ मुनि भी सयम-लक्ष्य में तन्मय होकर ही उसे प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। शब्द आदि विषयो में व्याक्षिप्त होकर वह संयम से स्खलित हो जाता है।[4]

१२ गोला

लाख को यदि अग्नि के अत्यन्त निकट रखा जाए तो वह बहुत पिघल जाती है, उसका गोला नही बनाया जा सकता और यदि उसे अग्नि से अति दूर रखा जाए तो

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १२.

जहा सप्पो सरत्ति बिले पविसति तहा साहुणा वि अणासादेंतेण हणुयं असंसरंतेणं आहारेयव्वं।

२—वही, पृष्ठ १२-१३ :

जहा वणस्स मा फुट्टिहिति तो से मक्खणं दिज्जइ, एवं इमस्सवि जीवस्स मा धितिक्खयं करेहिइ तो से दिज्जइ आहारो, ण वण्णाइहेउ।

३—वही, पृष्ठ १३ :

जहा सगडस्स जत्तासाहणट्ठा अब्भंगो दिज्जइ, एवं संजमभरवहणत्थं आहारेयव्वं।

४—वही, पृष्ठ १२ :

जहा रहिओ लक्खं विंधिउकामो तदुवउत्तो विंधइ, वक्खित्तचित्तो फिट्टइ, एवं साहूवि उवउत्तो भिक्खं हिंडंतो संजमलक्खं विंधइ, वक्खिप्पंतो सद्दाइएसु फिट्टइ।

वह पिघलती नहीं। ऐसी स्थिति में भी गोला नहीं बनाया जा सकता। लाख का गोला तभी बन सकता है जबकि उसे न अग्नि से अति दूर रखा जाए और न अति निकट। इसी प्रकार भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि यदि अतिभूमि (भिक्षुओ के लिए गृह में निर्धारित भूमि) से आगे चला जाता है तो गृहस्वामी को अविश्वास हो सकता है, अप्रीति हो सकती है। यदि वह बहुत दूर खडा रहता है तो पहली बात है कि दृष्टिगोचर न होने के कारण उसे भिक्षा ही नहीं मिलती और दूसरी बात है कि गृहस्थ कैसे देता है, उसकी एपणा नही हो पाती। इसलिए मुनि भिक्षा-भूमि की मर्यादा को जान कर उससे अति दूर या अति निकट न ठहरे, उचित स्थान पर ठहरे।[1]

१३ पुत्र :

जैसे कोई पुरुप अत्यन्त अनिवार्य स्थिति में अपने पुत्र का मास खाता है—धन्य सार्थवाह ने अपनी पुत्री 'मुसुमा' का मास केवल जीवित रह कर राजगृह पहुँचने के लिए खाया था, किन्तु वर्ण, रूप, वल आदि बढाने के लिए नही—वैसे ही मुनि निर्वाण-लक्ष्य की साधना के लिए आहार करे किन्तु वर्ण, रूप आदि बढाने के लिए नही।[2]

१४ उदक

जिस प्रकार एक वणिक् ने रत्नों की सुरक्षा के लिए अपेय जल पीया था, उसी प्रकार मुनि रत्नत्रयी—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—की सुरक्षा के लिए आहार करे।[3]

तथा—

वृक्षों की यह प्रकृति है कि वे अपते अनुकूल ऋतु में पुष्पित होते है और उचित

१—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १३

जहा जंतुमि गोलए कज्जमाणे जइ अग्गिणा अतिल्लियाविज्जइ ता अतिदव-त्तणेण न सक्कइ काउं, अह व नेवऽल्लियाविज्जइ नो चेव निग्घरति, णातिदूरे णातिआसण्णे अ कए सक्कइ बंधिउं, एवं भिक्खापविट्ठो साहू जइ अइभूमीए विसइ तो तेसिं अगारहत्थाणं अप्पत्तियं भवइ तेण य संकणादिदोसा, अह दूरे तो न दीसइ एसणाघाओ य भवइ, तम्हा कुलस्स भूमिं जाणित्ता णाइदूरे णासण्णे ठाइयव्वं।

२—वही, पृष्ठ १३।

३—वही, पृष्ठ १३।

काल में फल भी देते हैं।[1] उसी प्रकार पचन-पाचन भी गृहस्थो की प्रकृति है। साधु पचन-पाचन से दूर रहता है।[2]

भ्रमर स्वाभाविक रूप से पुष्पित फूलों से रस लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है, वैसे ही श्रमण भी स्वाभाविक रूप से गृहस्थ के लिए बने हुए भोजन में से कुछ लेकर अपने आपको तृप्त कर लेता है।[3] जैसे—स्वभाव-कुसुमित द्रव्यो को बाधा दिए बिना भ्रमर रस लेते हैं, उसी प्रकार श्रमण भी नागरिकों को बाधा दिए बिना, उनके (नागरिको) लिए सहज बना हुआ भोजन लेते है।[4]

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १०८ :

पगई एस दुमाणं जं उउसमयम्मि आगए संते।
पुप्फंति पायवगणा फलं च कालेण बंधति॥

२—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ६८।

३—वही, पृष्ठ ६८।

४—वही, पृष्ठ ६८-६९।

४–मुनि कैसा हो ?

वनस्पति तथा प्राणि जगत् के स्वभावो की विचित्रता आज भी आश्चर्यकारक है और इनका स्वतंत्र अध्ययन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने श्रमण के अनेक गुणो को स्पष्ट करने के लिए वनस्पति-जगत्, प्राणि-जगत् तथा अन्यान्य चर-अचर पदार्थों के गुणो को छुआ है और उनके माध्यम से श्रमण के जीवन को स्पष्ट करने का सुन्दरतम प्रयास किया है। उन्होने व्यावहारिक दृष्टान्तों से इस विषय को समझाया है, अत यह दुरूह विषय भी सरल बन गया है। इसके अध्ययन से श्रमण की चर्या, मानसिक विकास तथा चारित्रिक विकास का स्पष्ट प्रतिबिम्ब सामने आ जाता है। निर्युक्तिकार ने बारह उपमाओ द्वारा भिक्षु का स्वरूप बतलाया है।[1] टीकाकार ने एक भिन्न कर्तृक गाथा को उद्धृत करते हुए श्रमण के लिए ग्यारह उपमाएँ प्रस्तुत की है।[2] उनमें कई पुनरुक्त भी हैं।

१ वह सर्प जैसा हो :

यहाँ सर्प की तुलना तीन बातो से की गई है :

१ सर्प जैसे एकाग्र-दृष्टि वाला होता है, वैसे ही मुनि भी धर्म में एकाग्र-दृष्टि वाला हो।

२ सर्प जैसे पर-कृत बिल में रहता है, वैसे मुनि भी पर-कृत घर मे रहे।[3]

३ सर्प जैसे बिल में झट से प्रविष्ट हो जाता है, वैसे मुनि भी आहार को झट से निगल जाए।[4]

१–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५७

उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
भमरमिगधरणिजलरुहरविपवणसमो जओ समणो॥

२–हारिभद्रीय टीका, पत्र ८३।

३–जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२

जहा उरगसमेण होयव्व, तत्थ एगंतदिट्ठित्तणं धम्मं पडुच्च कायव्वं, परकडपरिणिट्ठियासु वसहीसु वसितव्वं।

४–अगस्त्य चूर्णि :

बिलमिवपन्नगभूतेण अप्पाणेण आहारवित्ति जहा बिलं पन्नगं नासाएत्ति।

२. वह पर्वत जैसा हो :

जैसे पर्वत पवन से अप्रकम्पित होता है, उसी प्रकार मुनि भी कष्टों से अप्रकम्पित हो। किन्तु पर्वत की तरह जड और कठोर न हो।[1]

३ वह अग्नि जैसा हो

जैसे अग्नि इन्धन आदि से तृप्त नही होती, उसी तरह मुनि भी ज्ञान से तृप्त न हो।

जैसे अग्नि जलाते समय—इसे जलाना चाहिए, इसे नही—यह भेद नहीं करती,[2] उसी प्रकार मुनि भी मनोज्ञ व अमनोज्ञ आहार में भेद न करे—राग-द्वेष न करे।

४ वह सागर जैसा हो

सागर जैसे गम्भीर होता है, अथाह होता है, रत्नों का आकर होता है और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी होता है, उसी प्रकार मुनि भी गम्भीर हो, अथाह हो, ज्ञान का आकर हो और मर्यादा का अनतिक्रमणकारी हो।

(किन्तु सागर की तरह खारा होने के कारण अस्पृहणीय न हो)[3]

१–(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र ८३

गिरिसम. परीषहपवनाकम्प्यत्वात्।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

पव्वय सरिसेण साधुणा होयव्वं, तस्स पुण पव्वयस्स अण्णाणभावं खरभावं च उज्झिऊणं तेजस्सित्तणं परिगिज्झइ।

२–जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२

जह वा सो अग्गी इंधणादीणि डहमाणे णो कत्थइ विसेसं करेति–इमं डहितव्वं इमं वा अडहणीयं, एवं मणुण्णामणुण्णेसु अण्णपाणादिसु फासुएसणिज्जेसु रागो दोसो वा न कायव्वो।

३–(क) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ :

सागरसरिसेण होयव्वं साहुणा, सो य गतीए खारत्तणेण अपेयो न एयं घेप्पइ, किं तु जाणि य समुद्दस्स गंभीरत्तं अगाहत्तणं व ताणि घेप्पंति, कहं ? साहुणा सागरो इव गंभीरेण होयव्वं, नाणदंसणचरित्तेहिं य अगाहेण भवितव्व।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र ८३

सागरसमो गम्भीरत्वाज्ज्ञानादिरत्नाकरत्वात् स्वमर्यादानतिक्रमाच्च।

५ वह आकाश जैसा हो :

जैसे आकाश निरुपलेप और निरालम्ब होता है, उसी प्रकार मुनि भी माता-पिता आदि में अलिप्त हो और स्वावलम्वी हो ।[1]

६ वह वृक्ष जैसा हो :

जैसे वृक्ष पक्षियों के लिए आधारभूत होता है और छेदन-भेदन या पूजा करने पर समवृत्ति रहता है, उसी प्रकार मुनि भी मोक्ष-फल चाहने वालों के लिऐ आधारभूत हो और मान-अपमान में सम हो ।[2]

७ वह भ्रमर जैसा हो :

जैसे भ्रमर अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जान कर वर्तने वाला होता है, उसी प्रकार मुनि भी अनियत-वृत्ति वाला तथा अपनी भूख, देश और काल को जानने वाला हो ।[3]

८ वह मृग जैसा हो :

जैसे मृग सदा उद्विग्न—भयभीत रहता है, उसी प्रकार मुनि भी संसार के भय से सदा उद्विग्न हो, सदा अप्रमत हो ।[4]

९ वह पृथ्वी जैसा हो :

जैसे पृथ्वी सभी स्पर्शो को समभाव से सहती है, उसी प्रकार मुनि भी सभी स्पर्शों को समभाव से सहने वाला हो ।[5]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ७२ ।

२–(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र ८३ ।
  (ख) जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ७२ ।

३–वही, पृ० ७२ :
  भमरेण च अनियतवत्तिणा भवितव्वं, कहं ? भमरो जहा एस चेव हेट्ठा उदरं देसं कालं च नाऊण चरइ, एव साहुणावि गोयरचरियादिसु देसं काल च नाऊण चरियव्वं ।

४–वही, पृ० ७२ :
  जहा मिगो णिच्चुव्विग्गो तहा णिच्चकालमेव संसारभउव्विग्गेण अप्पमत्तेण भवियव्व ।

५–वही, पृ० ७२ :
  धरणी विव सव्वफासविसहेण साहुणा भवितव्वं ।

१० वह कमल जैसा हो :

जैसे कमल कीचड में उत्पन्न होता है, पानी में समृद्ध होता है, फिर भी उनसे अलिप्त रहता है। उसी प्रकार मुनि भी काम से उत्पन्न हुआ, भोगो से बढा, फिर भी उनसे अलिप्त हो।[1]

११ वह सूर्य जैसा हो :

जैसे सूर्य तेजस्वी होता है और समस्त लोक को भेदभाव किए बिना प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मुनि भी तेजस्वी हो तथा राजा और रक का भेद किए बिना सबको समान रूप से धर्म का उपदेश देने वाला हो।[2] कहा भी है— जैसे वडे आदमी को धर्म कहे वैसे ही तुच्छ को कहे और जैसे तुच्छ को कहे वैसे वडे आदमी को कहे।

१२ वह पवन जैसा हो :

जैसे पवन अप्रतिबद्ध होता है—मुक्त होकर चलता है, उसी प्रकार मुनि भी अप्रतिवद्ध-विहारी हो।[3]

१३ वह विष जैसा हो :

जैसे विष सर्व रसानुपाती होता है—सभी रसो को अपने में समाहित कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्व रसानुपाती हो—प्रिय-अप्रिय आदि सभी स्थितियो को अपने मे समाहित करने वाला हो। कहा भी है—

"हम मनुष्य हैं। न मित्र हैं और न पण्डित, न मानी है और न धन-गर्वित। जैसे-जैसे लोग होते हैं, हम भी वैसे ही वन जाते है जैसे कि विष रस के अनुरूप ही अपने को परिवर्तित कर लेता है।"[4]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ७२ :

जहा पउमं पंके जायं जले समिद्ध तेहिं चेव नोवलिप्पइ, एवं साहुणावि कामेहिं जाएण भोगेहिं संवढ्ढिएण तहा कायव्वं जहा तेहि न लिप्पइ।

२—वही, पृ० ७२-७३

सूरो इव तेयसा जुत्तेण साहुणा भवितव्वं, जहा सूरोदयो समंता अविसेसेण लोगं पगासेइ, एवं साहुणावि धम्मं कहयंतेण राइणो दासस्स अविसेसेण कहेयव्वं।

३—वही, पृ० ७३ :

जहा पवणो कत्थइ ण पडिवद्धो तहा साहुणावि अपडिवद्धेण होयव्वं।

४—वही, पृ० ७३

साहुणा विससमेण भवितव्वं, भणियं च—

वयं मणुस्सा ण सहा ण पंडिया, ण माणिणो णेव य अत्थगव्विया।
जणं जणं (तो) पभवामु तारिसा, जहा विसं सव्वरसाणुवादिणं॥

१४ वह तिनिश जैसा हो :

जैसे तिनिश का पौधा सब ओर झुक जाता है, उसी प्रकार मुनि भी बडो के प्रति नम्र हो तथा श्रुत और अर्थ-ग्रहण के लिए छोटो के प्रति भी नम्र हो।[1]

१५ वह वजुल-वेतस जैसा हो :

जैसे वजुल के नीचे बैठने से सर्प निर्विष हो जाते है, उसी प्रकार मुनि भी दूसरो को निर्विष करने वाला हो—उसके पास आए हुए क्रोधाकुल पुरुष भी उपशान्त हो जाँय—ऐसी क्षमता वाला हो।[2]

१६ वह कर्णवीर (कणेर) के फूल जैसा हो :

जैसे सभी फूलों में कणेर का फूल स्पष्ट और गन्ध रहित होता है, उसी प्रकार मुनि भी सर्वत्र स्पष्ट और अशील की गन्ध से रहित हो।[3]

१७ वह उत्पल जैसा हो :

जैसे उत्पल सुगधयुक्त होता है, उसी प्रकार मुनि भी शील की सुगन्ध से युक्त हो।[4]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ७३.
तिणिसा जहा सव्वतो नमइ एव जहाराइणिए णमितव्वं, सुत्तत्थं च पडुच्च ओमराइणिएसुवि नमियव्वं।

२–वही पृ० ७३.
वजुलो नाम वेतसो, तस्स किल हेट्ठ चिट्ठिया सप्पा निव्विसी भवंति, एरिसेण साहुणा भवितव्वं, जहा कोहाइएहिं महाविसेहि अभिभूए जीवे उवसामेइ।

३–वही, पृ० ७३
कणवीरपुप्फं सव्वपुप्फेसु पागड णिग्गंधं च, एवं साहुणावि सव्वत्थ पागडेण भवियव्वं, जहा असुइत्ति एस निग्गंधेणं असुभगंधो न भवइ सीलस्स एवं भवियव्वं।

४–वही, पृ० ७३
उप्पलसरिसेण साहुणा भवियव्वं, कहं ? जहा उप्पलं सुगंध तहा साहुणा सीलसुगंधेण भवियव्वं।

१८ वह उंदुर जैसा हो

जैसे चूहा उपयुक्त देश और काल में विचरण करता है, उसी प्रकार मुनि भी उपयुक्त देश-काल-चारी हो।[1]

१९ वह नट जैसा हो

जैसे नट बहुरूपी होता है, कभी राजा का और कभी दास का वेश धारण कर लेता है। उसी प्रकार मुनि भी हर स्थिति व काम करने में अपने को वैसे ही बना लेता है।[2]

२० वह मुर्गे जैसा हो

जैसे मुर्गा प्राप्त अनाज को पैरों से बिखेर कर चुगता है ताकि दूसरे प्राणी भी उनको चुग सकें (खा सकें), उसी प्रकार मुनि भी संविभागी हो—प्राप्त आहार के लिए दूसरो को निमंत्रित कर खाने वाला हो।[3]

२१ वह कॉच जैसा हो

जैसे काँच निर्मल और प्रतिबिम्बग्राही होता है, उसी प्रकार मुनि भी निर्मल और प्रतिबिम्बग्राही हो। काच वैसा ही प्रतिबिम्ब लेता है, जैसी वस्तु सामने आती है। उसी प्रकार मुनि भी तरुणो में तरुण, स्थविरो में स्थविर और बच्चों में बच्चा बन जाए।[4]

१—(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र ८४ :

उन्दुरुसमेन उपयुक्तदेशकालचारितया।

(ख) जिनदास चूर्णि में इसका उल्लेख नही है।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० ७३ :

जहा से बहुरूवि रायवेसं काउं दासवेसं धारेइ एवमाई, एव साहुणा माणावमाणेसु नडसरिसेण भवियव्वं।

३—वही, पृ० ७३ .

कुक्कुडो जं लब्भइ तं पाएण विक्किरइ ताहे अण्णेवि सत्ता चुणंति, एवं संविभागरुइणा भवियव्वं।

४—हारिभद्रीय टीका, पत्र ८४ :

आदर्शसमेन निर्मलतया तरुणाद्यनुवृत्तिप्रतिबिम्बभावेन च, उक्तं च—

तरुणंमि होइ तरुणो थेरो थेरेहिं डहरए डहरो।
अद्दाओविव रूवं अणुयत्तइ जस्स जं सीलं॥

२२ वह अगन्धनकुल-सर्प जैसा हो

सर्प दो प्रकार के होते है

१ गन्धन-कुल में उत्पन्न ।

२ अगन्धन-कुल में उत्पन्न ।

गन्धन जाति के सर्प डस कर चले जाते है किन्तु मंत्रो से प्रेरित हो पुन: वहाँ आकर डसे हुए स्थान (व्रण) पर मुँह रखकर विष को चूस लेते है। अगन्धन जाति के सर्प मरना स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु वमन किए हुए विष को पुन पीना स्वीकार नही करते। उसी प्रकार मुनि भी त्याज्य काम-भोगो को पुन पीने वाला न हो।[1]

२३ वह हृढ वनस्पति जैसा न हो

हृढ एक जलज वनस्पति है। उसकी जड नही होती। वायु के झोकों से वह इधर-उधर आती-जाती रहती है। जैसे वह अबद्ध-मूल और अस्थिर होती है, उसी प्रकार मुनि भी अबद्ध-मूल और अस्थिर न हो।[2]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ८७।

२–वही, पृ० ८९ :

हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिसु छिण्णमूलो भवति, तया वातेण य आइद्धो इओ य निज्जइ।

५—निक्षेप-पद्धति

निर्युक्ति में निक्षेप-कथन से व्याख्या की पद्धति मिलती है। नाम आदि विविक्षाओं से शब्दों के अर्थ का विस्तृत वर्णन मिलता है। उदाहरणस्वरूप 'दसवेआलिय' शब्द के आरम्भिक 'दस' शब्द का अर्थ-स्फोटन नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव—इन छह निक्षेपों से किया गया है।

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे अ।
एसो खलु निक्खेवो दसगस्स उ छव्विहो होइ ॥ ९ ॥

प्रथम अध्ययन 'दुमपुप्फिया' के 'दुम' शब्द की व्याख्या चार निक्षेपों से की गई है

णामदुमो ठवणदुमो दव्वदुमो चेव होइ भावदुमो।
एमेव य पुप्फस्स वि चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥ ३४ ॥

१ धर्म :

प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में 'धम्म' शब्द आया है। चार निक्षेपों के सहारे इसकी व्याख्या निर्युक्ति मे इस प्रकार मिलती है

णामंठवणाधम्मो दव्वधम्मो अ भावधम्मो अ।
एएसि नाणत्तं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३९ ॥

दव्वं च अत्थिकायप्पयारधम्मो अ भावधम्मो अ।
दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स ॥ ४० ॥

धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य।
लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोगऽणेगविहो ॥ ४१ ॥

गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईणं।
सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहि उ पसत्थो ॥ ४२ ॥

दुविहो लोगुत्तरिओ सुअधम्मो खलु चरित्तधम्मो अ।
सुअधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥ ४३ ॥

निक्षेप-शैली से अर्थ-कथन करने के कारण पर्यायवाची शब्द और भेदानुभेदों का विस्तृत वर्णन निर्युक्ति, चूर्णि और टीका में मिलता है।

- इनके संकलन में तत्कालीन राज्य-व्यवस्था, सम्यता और विभिन्न आचारो पर ाश पडता है। जैसे[1]—

(१) गम्य-धर्म—विवाह सम्बन्धी आचार। दक्षिणापथ में मामे की लडकी के साथ विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नही।

(२) पशु-धर्म—पशु का आचार। माता, भगिनी आदि भी उनके लिए गम्य होती थीं।

(३) देश-धर्म—देश का आचार। दक्षिणापथ की वेष-भूषा भिन्न है और उत्तरापथ की भिन्न।

(४) राज्य-धर्म—राज्य का आचार, लाट देश में कर भिन्न होता है और उत्तरापथ में भिन्न।

(५) पुर-धर्म एव ग्राम-धर्म—नगर एवं गाँव का आचार। गाँव में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी किन्तु नगर में अकेली स्त्री न आ-जा सकती थी, दूसरी स्त्री के साथ ही जाती थी।

(६) गण-धर्म—मल्ल आदि गणतंत्र राज्यो की व्यवस्था। एक स्थान में सामूहिक रूप से पान करना उनका आचार था।

(७) गोष्ठी धर्म—समवयस्क व्यक्तियो का आचार। वे उत्सव आदि में सम्मिलित होकर रुचिकर भोजन आदि बनाते और सहभोजन करते।

(८) राज-धर्म—राजा का आचार। दुष्ट का निग्रह और सज्जन का परिपालन-यह राज-धर्म है।

अर्थ (अर्थशास्त्र) :

सक्षेप में अर्थ (सम्पत्ति) छह प्रकार का होता है

(१) धान्य	(४) द्विपद
(२) रत्न	(५) चतुष्पद
(३) स्थावर	(६) कुप्य

इनमें स्थावर अचल-सम्पति है और शेष सब चल-सम्पत्ति के प्रकार है। विस्तार अर्थ (सम्पत्ति) ६४ प्रकार का है

(१) धान्य—	२४ प्रकार
(२) रत्न—	२४ प्रकार
(३) स्थावर—	३ प्रकार

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र २२।

(४) द्विपद— २ प्रकार
(५) चतुष्पद— १० प्रकार
(६) कुप्य— १ प्रकार

धान्य के २४ प्रकार[1]

(१) जौ	(१३) अलसी
(२) गेहूँ	(१४) काला चना
(३) शालि चावल	(१५) तिउडय[3]
(४) व्रीहि-वन चावल	(१६) निष्पाव (गुजरात में इसे 'वाल' कहते है)
(५) साठी चावल	(१७) मोठ
(६) कोदो, कोदव	(१८) राजमाष-लोभिया, चौला
(७) अणुक[2]	(१९) इक्षु
(८) कागणी	(२०) चौला
(९) रालक	(२१) रहर
(१०) तिल	(२२) कुलथी
(११) मूग	(२३) धनिया
(१२) उडद	(२४) मटर

चूर्णिकार के अनुसार 'मसूर' को मालवा आदि देशो में 'चौला' कहा जाता था[4] और वृत्तिकार ने राजमाष का अर्थ 'चौला' किया है[5]।

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २५२, २५३।

२—देशीनाममाला (१।५२) मे इसके दो अर्थ किए हैं—(१) आकार और (२) धान्य-विशेष।

३—पाइयसद्दमहण्णव (पृ० ५३७) मे इसे देशी शब्द मानकर इसका अर्थ मालव-देश मे प्रसिद्ध एक प्रकार का धान्य किया है।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० २१२ :
मसूरा मालवविसयादिसु चवलगा।

५—हारिभद्रीय टीका, पत्र १९३ :
राजमाषा—चवलका।

रत्न के २४ प्रकार[1]

(१) स्वर्ण	(९) वज्र	(१७) वस्त्र
(२) त्रपु—कलई	(१०) मणि	(१८) अमिला—ऊनी वस्त्र
(३) ताम्र	(११) मुक्ता	(१९) काष्ठ
(४) रजत—चाँदी	(१२) प्रवाल	(२०) चर्म—महिष, सिंह आदि का
(५) लोह	(१३) शख	(२१) दन्त—हाथी दाँत आदि
(६) सीसा, रागा	(१४) तिनिश[2]	(२२) बाल—चमरी गाय आदि के
(७) हिरण्य—रुपया	(१५) अगरु	(२३) गन्ध—सौगन्धिक द्रव्य
(८) पाषाण-विजातीयरत्न	(१६) चन्दन	(२४) द्रव्य—औषधि-पीपर आदि

स्थावर के तीन प्रकार[3] ·

स्थावर—अचल-सम्पत्ति तीन प्रकार की होती है (१) भूमि, (२) गृह और (३) वृक्ष-समूह।

भूमि का अर्थ है—क्षेत्र। वे तीन प्रकार के होते हैं (१) सेतु, (२) केतु और (३) सेतु केतु।

गृह तीन प्रकार के होते है[4]

(१) खात—भूमिगृह, (२) उच्छ्रित—प्रासाद और (३) खात-उच्छ्रित—भूमिगृह के ऊपर प्रासाद।

तरुगण[5] नारियल, कदली आदि के आराम।

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र १९३।

२—देखो, देशीनाममाला, ५।११ ·
इसके दो अर्थ हैं—तिनिश वृक्ष (गुजराती मे तणछ) और मधु-पटल—मधुमक्खी का छत्ता।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २५६ :
भूमी घरा य तरुगण तिविहं पुण थावरं मुणेअव्वं।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० २१२ .
घरं तिविहं—खातं उस्सितं खाओसितं, तत्थ खायं जहा भूमिघरं, उस्सितं जहा पासाओ, खातउस्सित जहा भूमिघरस्स उवरि पासादो।

५—वही, पृ० २१२ .
तरुगणा जहा नालिकेरिकदलीमादी।

द्विपद के दो प्रकार[1] :

(१) चक्रारबद्ध—दो पहियो से चलने वाले गाडी, रथ आदि ।

(२) मनुष्य—दास, भृतक आदि ।

चतुष्पद के दस प्रकार[2] :

(१) गो-जाति	(६) अश्व-जाति
(२) महिष-जाति	(७) अश्वतर-जाति[3]
(३) उष्ट्र-जाति	(८) घोटक-जाति
(४) अज-जाति	(९) गर्दभ-जाति
(५) भेड-जाति	(१०) हस्ति-जाति

पक्खली या वाल्हीक आदि देशों में उत्पन्न जात्य हयो को 'अश्व' और अजात्य (सामान्य जातीय) हयो को 'घोटक' कहा जाता है ।[4]

कुप्य

प्रतिदिन घर के काम में आने वाली उपकरण-सामग्री—शयन, आसन, ताम्रकलश, घट आदि को 'कुप्य' कहा जाता है ।[5]

१–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २५६ :

चक्कारबद्धमाणुस दुविहं पुण होइ दुपयं तु ॥

२–वही, गाथा २५७ :

गावी महिसी उट्टा अयएलगआसआसतरगा अ ।

घोडग गद्दह हत्थी चउप्पयं होइ दसहा उ ॥

३–जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

अस्सतरा नाम जे विजातिजाया जहा महामद्दएण दीलवालियाए ।

४–(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१२-१३ .

आसो नाम जच्चस्सा जे पक्खलिविसयादिसु भवंति···जे पुण अजवजाति-जाता ते घोडगा भवंति ।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र १९४ :

अश्वा—वाल्हीकादिदेशोत्पन्ना जात्याः' अजात्या घोटका· ।

५–(क) जिनदास चूर्णि, पृ० २१३ :

कुवियं नाम घडघडिउवुंचणियं सयणासणभायणावि गिहवित्थारो कुवियं भण्णइ ।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र १९४ ।

३. अपाय :

अपाय का अर्थ है—परित्याग। वह चार प्रकार का है[1] (१) द्रव्य अपाय, (२) क्षेत्र अपाय, (३) काल अपाय और (४) भाव अपाय।

इनको समझाते हुए निर्युक्तिकार ने अनेक दृष्टान्तों और ऐतिहासिक तथ्यो को प्रस्तुत किया है। जैसे—

(१) द्रव्य अपाय[2]

इसे 'दो भाई और नौली'—के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है।[3] देखो—"दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ" कथा-संख्या १६।

(२) क्षेत्र अपाय[4]

दशार्ह हरिवंश में उत्पन्न राजा थे। कंस ने मथुरा का विध्वंस कर दिया। राजा जरासन्ध का भय बढा तब उस क्षेत्र को अपाय-बहुल जान कर दशार्ह वहाँ से चल कर द्वारवती आ गए।[5]

(३) काल अपाय :

एक बार कृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि से पूछा—भगवन् ! द्वारवती का नाश कब होगा ? अरिष्टनेमि ने कहा—बारह वर्षों में द्वैपायन ऋषि के द्वारा इसका नाश होगा। द्वैपायन ऋषि ने जन-श्रुति से यह बात सुनी। "मुझ से नगरी का विनाश न हो,

---

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र ३५।
२–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५५।
३–हारिभद्रीय टीका, पत्र ३५-३६।
४–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :
खेत्तंमि अवक्कमणं दसारवग्गस्स होइ अवरेणं।
५–हारिभद्रीय टीका, पत्र ३६ :
खित्तापाओदाहरण दसारा हरिवंसरायाणो एत्थ महई कहा जहा हरिवंसे। उवओगियं चेव भण्णए, कंसंमि विणिवाइए सावायं खेत्तमेयंतिकाऊण जरासंधरायभएण दसारवग्गो महुराओ अवक्कमिऊण बारवइं गओत्ति।

इसलिए इस काल की अवधि में और कही चला जाऊँ"—यह सोच वे द्वारका को छोड उत्तरापथ में चले गए।[1]

(४) भाव अपाय :

इसे 'तुम्हें वन्दना कैसे करें'—इस दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। देखो—"दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ", कथा-संख्या १६।

४. उपाय[2] :

उपाय का अर्थ है—इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-विशेष। वह चार प्रकार है

(१) द्रव्य उपाय सोना निकालने और उसे शुद्ध रूप में प्राप्त करने का उपाय धातुवाद है।[3]

(२) क्षेत्र उपाय हल आदि क्षेत्र को तैयार करने का उपाय है।[4] नौका से समुद्र के पूर्वी तट से पश्चिमी तट पर जाना।[5]

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ५६ :

दीवायणो अ काले ।

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र ३६-३७ :

कण्हपुच्छिएण भगवया रिट्ठणेमिणा वागरियं—बारसहिं संवच्छरेहिं दीवायणाओ बारवईणयरीविणासो, उज्जोततराए णगरीए परंपरएण सुणिऊण दीवायणपरिव्वायओ मा णगरिं विणासेहामित्ति कालावधिमण्णओ गमेमित्ति उत्तरावहं गओ।

२—(क) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१-६२ :

एमेव चउविगप्पो होइ उवाओ ऽवि तत्थ दव्वंमि।
धातुव्वाओ पढमो नंगलकुलिएहि खेत्तं तु॥
कालो अ नालियाइहिं होइ भावंमि पंडिओ अभओ।
चोरस्स कए नट्टिं वड्ढकुमारिं परिकहेइ॥

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र ४१,४२।

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र ४० :

द्रव्योपाये विचार्ये 'धातुर्वाद' सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणो द्रव्योपायः।

४—वही, पत्र ४०

क्षेत्रोपायस्तु लाङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति।

५—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४ :

जहा नावाए पुव्ववेतालीओ अवरावेयालि गम्मइ।

(३) काल-उपाय—नालिका काल जानने का उपाय है।

(४) भाव-उपाय—इसे दो उदाहरणो से स्पष्ट किया है—एक खभे का प्रासाद (देखो दशवैकालिक चूर्णि की कथाएँ, कथा-संख्या १८) और दो विनय और विद्या (देखो वही, कथा-सख्या १६)।

अपाय और उपाय के निक्षेपो में दिए हुए लोकोत्तर उदाहरणो से निर्युक्ति-काल, चूर्णि-काल और वृत्ति-काल में साधु-सघ की जो स्थिति थी, उसका यथार्थ चित्र हमें प्राप्त होता है।

(१) द्रव्य-अपाय का लोकोत्तर रूप :

उत्सर्ग-विधि के अनुसार मुमुक्षु को अधिक द्रव्य (वस्त्र, पात्र आदि) तथा स्वर्ण आदि ग्रहण नही करना चाहिए। किन्तु विशेष कारण उपस्थित होने पर चिर-दीक्षित साधु यदि उनका ग्रहण करे तो कारण समाप्त होते ही उनका अपाय—परित्याग कर दे।[1]

(२) क्षेत्र-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि जिस क्षेत्र में विहार करता हो, यदि वह क्षेत्र अशिव आदि से आक्रान्त हो जाए तो मुनि उस क्षेत्र का अपाय कर दे।[2]

(३) काल-अपाय का लोकोत्तर रूप :

दुर्भिक्ष आदि की स्थिति उत्पन्न होने पर मुनि को वह समय अन्यत्र बिताना चाहिए, जहाँ दुर्भिक्ष आदि की स्थिति न हो।[3]

(४) भाव-अपाय का लोकोत्तर रूप :

मुनि क्रोध आदि का अपाय करे।[4]

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र ३९ :

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा द्रव्यमेवाधिकं वस्त्रपात्राद्यन्यद्वा कनकादि न ग्राह्यं, शिक्षकाहिसंदिष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिसमाप्तौ परित्याज्यम्।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० ४१ .

साहुणावि असिवादीहि कारणेहिं खेत्तावाओ कायव्वो।

३—वही, पृ० ४१ .

साहुणावि दुब्भिक्खस्स अवातो असिवाण च कायव्वो, ण-उ अपुण्णे आगंतव्वं मूढत्ताए।

४—हारिभद्रीय टीका, पत्र ३९ :

क्रोधादयोऽप्रशस्तभावास्तेषां विवेकः—नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्याग.।

(१) द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप :

(१) जैसे धातुवादिक उपाय से सोना बनाते है उसी प्रकार मुनि सघीय-प्रयोजन उत्पन्न होने पर योनि-प्राभृत आदि ग्रन्थ-निर्दिष्ट उपायो से सोना तैयार करे।[1]

(२), विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर विद्या-बल से ऐसा दृश्य उपस्थित करे, जिससे कठिन स्थिति उपशान्त हो जाए।[2]

निर्युक्तिकार ने उपाय के केवल चार विकल्प बतलाए है। उन्होंने जो उदाहरण दिए है वे सारे लौकिक हैं।[3] लोकोत्तर विकल्पो की उन्होने कोई चर्चा नहीं की है। चूर्णिकार ने लोकोत्तर उपायो की चर्चा की है। वहाँ सघ-कार्य के लिए स्वर्ण-निर्माण और विद्या-प्रयोग का अपवाद स्वीकार किया है।[4] वृत्तिकार ने लोकोत्तर उपायों की चर्चा की है किन्तु चूर्णिकार के इस (स्वर्ण-निर्माण) अभिप्राय को उन्होंने पराभिमत के रूप में उद्धृत किया है।[5] उनके अनुसार द्रव्य-उपाय का लोकोत्तर रूप यह है— पटल (छाछ से भरे हुए वस्त्र) आदि के प्रयोग से जल को प्रासुक बनाना।[6] चूर्णि का अपवाद वृत्तिकार को मान्य नहीं रहा और वृत्ति का अपवाद आज मान्य नहीं है। इसका निष्कर्ष यह है कि चूर्णि-काल मे साधु-सघ बडी कठिनाइयो से गुजर रहा था। उस परिस्थिति में अनेक विधि-विधान निर्मित हुए। आगम-काल में अहिंसा का स्थान सर्वोच्च था। उसके सामने संघ का स्थान गौण था, किन्तु इस मध्यकाल मे संघ ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। यौगिक सिद्धियो का प्रयोग भी मान्य होने लगा। वृत्ति-काल में कठिनाइयाँ भिन्न प्रकार की थी। इसलिए अपवाद भी भिन्न प्रकार के बने। आज दोनो प्रकार की कठिनाइयाँ नही है।

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४ :

दव्वोवायो जहा धातुवाइया उवाएण सुवण्णं करेंति, एवं तारिसे संघकज्जे समुप्पण्णे उवाएण जोणीपाहुडाइयं पडिणीयं आसयंति।

२—वही, पृ० ४४ :

विज्जातिसएहि वा एरिसे दरिसेइ जेण उवसमेइ।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६१-६२।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४।

५—हारिभद्रीय टीका, पत्र ४० :

अन्ये तु योनिप्राभृतप्रयोगत· काञ्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव संञ्जातप्रयोजनादौ द्रव्योपायं व्याचक्षते।

६—वही, पत्र ४० :

लोकोत्तरे त्वध्वादौ पटलादिप्रयोगत. प्रासुकोदककरणम्।

(२) क्षेत्र-उपाय का लोकोत्तर रूप

विद्या-बल से दुर्गम मार्ग को पार करना ।[1] वृत्तिकार के अनुसार वह इस प्रकार है—आहार के लिए पर्यटन कर तदुपयुक्त क्षेत्र की एषणा करना ।[2] यहाँ भी वृत्तिकार ने चूर्णिकार के अभिप्राय को पराभिमत के रूप में उद्धृत किया है ।[3]

(३) काल-उपाय का लोकोत्तर रूप

सूत्र के परिवर्तन से काल को जानना ।[4]

(४) भाव-उपाय का लोकोत्तर रूप

आचार्य शैक्ष की उपस्थापना देने से पूर्व उसके मानसिक भावों को अच्छी तरह से जान ले और यह निर्णय करे कि—"यह प्रव्राजनीय है या नही ? प्रव्रजित करने पर भी यह मुण्डित करने योग्य है या नहीं ?"[5]

५. आचार :

आचार का अर्थ है—भिन्न-भिन्न रूपों में परिणमन । जो द्रव्य विवक्षित रूपो में परिणत हो सकता है, उसे आचारवान् और जो परिणत नही हो सकता हो, उसे अनाचारवान् कहा जाता है ।[6]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ४४ :
विज्जाइसएहिं अद्धाणाइसु नित्थरियव्वं ।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र ४० :
लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावनम् ।

३—वही, पत्र ४० :
अन्ये तु 'विद्यादिभिश्च दुस्तराध्वतरणलक्षणं क्षेत्रोपायमिति ।

४—वही, पत्र ४० :
लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्त्तनादिभिस्तथा भवति ।

५—वही, पत्र ४२ :
एवमिहवि सेहाणमुवट्ठायंतयाणं उवाएण गीअत्थेण दिपरिणामादिणा भावो जाणिअव्वोत्ति, किं एए पव्वावणिज्जा नवत्ति, पव्वाविएसुवि तेसु मुंडावणाइसु एमेव विभासा ।

६—वही, पत्र १०१ .
आचरणं आचार. द्रव्यस्याचारो द्रव्याचार., द्रव्यस्य यदाचरणं तेन तेन प्रकारेण परिणमनमित्यर्थ. ।

आचार चार प्रकार का है[1]—

(१) नाम-आचार—जिसका नाम 'आचार' हो।

(२) स्थापना-आचार—जिस सचेतन या अचेतन वस्तु में 'आचार' का आरोप किया गया हो।

(३) द्रव्य-आचार—यह छ प्रकार का है।

(४) भावाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

द्रव्य-आचार के छह प्रकार[2]

(१) नामन

झुकने की दृष्टि से—तिनिश आचारवान् होता है। एरण्ड अनाचारवान् होता है, वह झुकता नही टूट जाता है।

(२) धावन

धोने को दृष्टि से—हल्दिया रंग का कपडा आचारवान् होता है। धोने से उसका रंग उतर जाता है। कृमिराग से रगा हुआ कपडा अनाचारवान् होता है। धोने से उसका रग नही उतरता।

(३) वासन

वासन की दृष्टि से—ईंट, खपरैल आदि आचारवान् होते हैं—उन्हें पाटल आदि फूलो से वासित किया जा सकता है। वज्र अनाचारवान् होता है, उसे सुवासित नही किया जा सकता।[3]

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र १०१ ·
आचारस्य तु चतुष्को निक्षेप., स चायम्—नामाचार. स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च।

२–वही, पत्र १०१ :
द्रव्याचारमाह—नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणाविरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचारं विजानीहि।

३–(क) वही, पत्र १०१ ·
वासनं प्रति कवेलुकाद्याचारवत् . सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात्, वैडूर्याद्यनाचारवत् अशक्यत्वात्।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ९४ :
आयारमतीओ कवेल्लुगाओ इट्टगाओ वा, अणायारमन्तं वइरं, तं न सक्कए वासेडं।

(४) शिक्षापण

शिक्षण की दृष्टि से तोता और मैना आचारवान् होते है—उन्हें मनुष्य की बोली सिखाई जा सकती है। कौए आदि अनाचारवान् होते हैं—उन्हें मनुष्य की बोली नही सिखाई जा सकती।

(५) सुकरण

सरलता से करने की दृष्टि से सोना आचारवान् होता है, उसे गला-तपाकर सरलता से अनेक प्रकार के आभूषण बनाए जा सकते हैं। घटा-लोह आचारवान् नहीं होता है, उसे तोडकर उसकी दूसरी वस्तु नहीं बनाई जा सकती।

(६) अविरोध

अविरोध की दृष्टि से गुड और दही आचारवान् होते है—उनका योग रसोत्कर्ष पैदा करता है। तेल और दूध अनाचारवान् होते हैं, उनका योग रोग उत्पन्न करता है।

६. पद :

(१) जिससे चला जाता है, उसे 'पद' कहते है, जैसे—हस्ति-पद, व्याघ्र-पद, सिंह-पद आदि-आदि।[1]

(२) जिससे कुछ निष्पन्न किया जाता है, उसे 'पद' कहते है, जैसे—नख-पद, परशु-पद आदि-आदि।[2]

पद चार प्रकार का होता है[3]

(१) नाम-पद—जिसका 'पद' नाम हो।

(२) स्थापन-पद—जिस सचेतन या अचेतन वस्तु में 'पद' का आरोप किया गया हो।

(३) द्रव्य-पद।

(४) भाव-पद।

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ७६

गम्मंति जेणंति तं पदं भण्णइ, जहा हत्थिपदं वग्घपदं सीहपदं एवमादि।

२–वही, पृ० ७६

पदंणाम जेण निव्वत्तिज्जइ तं पदं भण्णइ, जहा नहपदं परसुपदं वासिपदं।

३–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६६ :

णामपयं ठवणपय दव्वपय चेव होइ भावपय।
एक्केक्कंपिय एत्तो णेगविहं होइ नायव्वं॥

द्रव्य-पद के ग्यारह प्रकार[1]—

(१) आकोट्टिम-पद—

जैसे—रुपया। यह दोनों ओर से मुद्रित होता है।

(२) उत्कीर्ण-पद—

जैसे—प्रस्तर में नाम उत्कीर्ण होता है अथवा कांस्य-पात्र उत्कीर्ण होता है।

(३) उपनेय-पद—

जैसे—बकुल आदि के आकार के मिट्टी के फूल बनाकर उन्हें पकाते हैं, फिर गरम कर उनमें मोम डाला जाता है। उससे वे मोम के फूल बन जाते हैं।[2]

(४) पीडित-पद—

जैसे—पुस्तक को वेष्टित कर रखा जाता है तब उसमें भगावलियाँ उठ जाती हैं।

(५) रंग-पद—

जैसे—रंगने पर कपडा विचित्र रूप का हो जाता है।

(६) ग्रथित-पद—

जैसे—गूथी हुई माला।

(७) वेष्टिम-पद—

जैसे—पुष्पमय मुकुट। आनन्दपुर में ऐसे मुकुट बनाए जाते थे।[3]

(८) पूरिम-पद—

जैसे—बेंत की कुण्डी बनाकर वह फूलो में भरी जाती है। उसमें अनेक छिद्र होते हैं।[4]

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६७ :

आउट्टिमउक्किन्नं उणेज्जं पीलिमं च रंगं च।
गंथिमवेढिमपूरिम वाइमसंघाइमच्छेज्जं॥

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र ८७ :

तहा बउलादिपुप्फसंठाणाणि चिक्खिल्लमयपडिबिंबगाणि काउं पच्चंति, तओ तेसु वग्घारित्ता मयणं छुब्भति, तओ मयणमया पुप्फा हवन्ति।

३—जिनदास चूर्णि, पृ० ७६ :

वेढिय जहा आणंदपुरे पुप्फमया मउडा कीरंति।

४—वही, पृ० ७६ :

पूरिमं वित्तमयी कुंडिया करित्ता सा पुप्फाणं भरिज्जइ, तत्थ छिड्डा भवंति एवं पूरिमं।

(९) वातव्य-पद—
जैसे—वस्त्र निर्मित अश्व आदि ।

(१०) संघात्य-पद—
जैसे—स्त्रियों की कंचुलियाँ अनेक वस्त्रों के जोड से बनती हैं ।

(११) छेद-पद—
जैसे—अभ्र-पटल ।

भाव-पद दो प्रकार का होता है[1]

(१) अपराध-पद ।

(२) नो-अपराध-पद ।

अपराध-पद छह प्रकार का होता है[2]—

(१) इन्द्रिय, (२) विषय, (३) कषाय, (४) परीषह, (५) वेदना, (६) उपसर्ग ।

ये मोक्ष-मार्ग के विघ्न है, इसलिए इन्हें अपराध-पद कहा गया है ।

नो-अपराध-पद दो प्रकार का होता है

(१) मातृका-पद—मातृका अक्षर अथवा त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ।

(२) नो-मातृका-पद—नो-मातृका-पद दो प्रकार का होता है ।

(१) ग्रथित-रचनाबद्ध ।

(२) प्रकीर्णक-कथा, मुक्तक[3] ।

ग्रथित-पद चार प्रकार का होता है[4]

(१) गद्य

(२) पद्य

(३) गेय

(४) चौर्ण

गद्य

जो मधुर होता है—सूत्र मधुर, अर्थ मधुर और अभिधान मधुर—इस प्रकार तीन रूपो में मधुर होता है, जो सहेतुक होता है, जो सिलसिलेवार ग्रथित—रचित होता है, जो

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ७७ ।

२–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७५ ।

३–वही, पृ० ७७ .

पतिण्णगं नाम जो पइण्णा कहा कीरइ तं पइण्णगं भण्णइ ।

४–वही, गाथा १७० :

गज्जं पज्जं गेयं चुण्णं च चउव्विहं तु गहियपय ।

अपाद—चरण-रहित होता है, जो विराम-सहित होता है—पाठ के नहीं किन्तु अर्थ के विराम से युक्त होता है (जैसे—"जिणवरपादारविंदसदाणिउरुणिम्मल्लसहस्सा।" इस पूरे वाक्य को समाप्त किए विना विराम नहीं लिया जा सकता। जो अन्त में अपरिमित—बृहद् होता है और अन्त मे जिसका मृदु-पाठ होता है, उसे गद्य कहते है।[1]

पद्य

यह तीन प्रकार का होता है[2]—

(१) सम

जिसके पाद—चरण तथा अक्षर सम हो, उसे सम कहते है। कई यह भी मानते हैं कि जिसके चारो चरणो में समान अक्षर हो, उसे सम कहा जाता है।

(२) अर्धसम

जिसके पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरणो के अक्षर समान हों, उसे अर्ध-सम कहते है।

(३) विषम

जिसके सभी चरणो में अक्षर विषम हो, उसे विषम कहते है।

गेय

जो गाया जाता है उसे गेय (गीत) कहते हैं। वह पाँच प्रकार का होता है[3]—

(१) तन्त्रीसम— जो वीणा आदि तंत्री के शब्दों के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तन्त्रीसम कहते है।

(२) तालसम—जो ताल के साथ-साथ गाया जाता है, उसे तालसम कहते हैं।[4]

१–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७१ :

महुरं हेउनिजुत्तं गहियमपायं विरामसंजुत्तं।
अपरिमियं चऽवसाणे कव्व गज्ज 'ति नायव्वं॥

२--वही, गाथा १७२ :

पज्जं तु होइ तिविहं सममद्धसमं च नाम विसमं च।
पाएहिं अक्खरेहिं य एवं विहिण्णू कई बेति॥

३--वही, गाथा १७३ :

(क) तंतिसमं तालसमं वण्णसमं गहसमं लयसमं च।
कव्वं तु होइ गेय पंचविहं गीयसन्नाए॥

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र ८८।

४–चूर्णि मे यहाँ व्यत्यय है। वहाँ तंत्रीसम, वर्णसम, तालसम आदि यह क्रम हैं। देखो—जिनदास चूर्णि, पृ० ७७।

(३) वर्णसम—ऋषभ, निषाद, पचम आदि वर्ण कहलाते-हैं। जो इनके साथ-साथ गाया जाता है, उसे वर्णसम कहते हैं।

(४) ग्रहसम—ग्रह का अर्थ है उत्क्षेप। (कई इसे प्रारम्भ-रस विशेष भी मानते हैं) जो उत्क्षेप के साथ-साथ गाया जाता है, उसे ग्रहसम कहते है।

(५) लयसम—तंत्री की विशेष प्रकार की ध्वनि को 'लय' कहते है। जो लय के साथ-साथ गाया जाता है, उसे लयसम कहते है।

वंश-शलाका मे तंत्री का स्पर्श किया जाता है और नखो से तार को दबाया जाता है, तब जो एक भिन्न प्रकार का स्वर उठता है, उसे 'लय' कहते हैं।

चौर्ण[1] :

जो अर्थ बहुल हो—जिसके बहुत अर्थ हों, जो महान् अर्थ वाला हो—हेय और उपादेय का प्रतिपादन करने वाले तथ्यों से युक्त हो, जो हेतु—निपात और उपसर्ग से युक्त होने के कारण गंभीर हो, जो बहुपाद हो—जिसके चरणों का कोई निश्चित परिमाण न हो, जो अव्यवच्छिन्न हो—विराम-रहित हो, जो गम-शुद्ध हो—जिसमें सदृश अक्षर वाले वाक्य हों और जो नय-शुद्ध हो—जिसका अर्थ नैगम आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिपादित हो, उसे 'चौर्ण-पद' कहते है। ब्रह्मचर्य अध्ययन (आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध) चौर्ण पद है।[2]

७. काय :

काय अनेक प्रकार का होता है[3]—

(१) नाम-काय—जिसका नाम 'काय' हो।

(२) स्थापना-काय—जिस सचेतन या अचेतन वस्तु में 'काय' का आरोप किया गया हो उसे स्थापना-काय कहते हैं।

१–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७४ :

अत्थबहुल महत्थं हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं च चुण्णपयं॥

२–हारिभद्रीय टीका, पत्र ८८ :

चौर्णं पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति।

३–(क) वही निर्युक्ति, गाथा २२८ .

णामं ठवणसरीरे गई णिकायत्थिकाय दविए य।
माउगपज्जवसंगहभारे तह भावकाए य॥

(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र १३४,१३५।

(३) शरीर-काय—शरीर स्वप्रायोग्य अणुओं का संघात होने के कारण शरीर-काय कहलाता है।

(४) गति-काय—जिन शरीरों से भवान्तर में जाया जाता है अथवा जिस गति में जो शरीर होते है, उन्हें गति-काय कहते हैं।

(५) निकाय-काय—षड्जीवनिकाय—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस को निकाय-काय कहते हैं।

(६) अस्ति-काय—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्ति-काय है।

(७) द्रव्य-काय—तीन आदि द्रव्य एकत्र हो उन्हें द्रव्य-काय कहा जाता है, जैसे—तीन घट, तीन पट आदि-आदि।

(८) मातृका-काय—तीन आदि मातृका अक्षरों को मातृका-काय कहते हैं।

(९) पर्याय-काय—यह दो प्रकार का होता है—

(क) जीवपर्याय-काय—जीव के तीन आदि पर्यायो को जीवपर्याय-काय कहते हैं। जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि।

(ख) अजीवपर्याय-काय—अजीव के तीन आदि पर्यायो को अजीवपर्याय-काय कहते हैं। जैसे—रूप, रस, गन्ध आदि-आदि।

(१०) संग्रह-काय—तीन आदि द्रव्य एक शब्द से संगृहीत होते हैं, उसे 'संग्रहकाय' कहते हैं। जैसे—त्रिकूट—सोठ, पीपल और कालीमिर्च। त्रिफला—हरडे, बहेडा और आँवला।

अथवा चावल आदि की राशि को भी 'संग्रहकाय' कहते है।

(११) भार-काय—वृत्तिकार ने इसका अर्थ काँवर किया है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ विस्तार से किया है—

"एक कहार तालाब से दो घडे पानी से भर, उन्हें अपनी काँवर में रख घर आ रहा था। एक ही अप्काय दो भागों में विभक्त हुआ था। उसका पैर फिसला, एक घडा फूट गया। उसमें जो अप्काय था, वह मर गया। दूसरे घडे में जो अप्काय था, वह जीवित रहा। काँवर में अब एक ही घडा रह गया। सतुलन के अभाव में वह भी फूट गया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह पहले जो अप्काय मरा था, उसी ने दूसरे घडे के अप्काय को मार डाला।"

प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है—

"एक घडे में अप्काय भरा था, उसे दो भागो में विभक्त कर एक भाग को गर्म किया गया। वह मर गया। जो गर्म नही किया गया था, वह जीवित रहा। गर्म पानी उसमें मिला दिया गया। वह निर्जीव हो गया। इसलिए कहा जा सकता है कि मृत

अप्काय ने जीवित अप्काय को मार डाला।" इसी को पहेली की भाषा में कहा गया है—

एगोकाओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ मारिओ।
जीवंतो भएण मारिओ, तल्लव माणव ! केण हेउणा॥

अर्थात् एक काय था। वह दो में बंट गया। एक जीवित रहा, एक मर गया। जो मरा उसने जीवित को मार डाला। कहो यह कैसे हुआ ?

(१२) भाव-काय—कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा परिणमन से होने वाली अवस्थाएँ।[1]

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र १३५ :
भावकायश्चौदयिकादिसमुदायः।

५–निरुक्त

निरुक्त का अर्थ है—शब्दो की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या। इस पद्धति में शब्द का मूल-स्पर्शी अर्थ ज्ञात हो सकता है। आगम के व्याख्यात्मक-साहित्य में इस पद्धति से शब्दों पर बहुत विचार हुआ है। उनकी छानबीन से शब्द की वास्तविक प्रकृति को समझने में बहुत सहारा मिलता है और अर्थ भी सही रूप मे पकड़ा जाता है। जिनदास चूर्णि में अनेक निरुक्त दिए गए है। उनका सकलन शब्द-बोध में सहायक है। कुछ निरुक्त ये है

दुम—

दुमा नाम भूमीय आगासे य दोसु माया दुमा।[१]

पादप—

पादेहि पिबंतीति पादपा।[२]

रुक्ख—

रुत्ति पुहवी खत्ति आगासं तेसु दोसुवि जहा ठिया तेण रुक्खा।[३]

विडिम—

विडिमाणि जेण अत्थि तेण विडिमा।[४]

अगम—

ण गच्छंतीति अगमा।[५]

तरव—

णदीतलागादीणि तेहिं तरिज्जति तेण तरवो।[६]

कुह—

कुत्ति पिथिवी तीए धारिज्जति तेणं कुहा।[७]

महीरुह—

महीए जेण रुहंति तेण महीरुहा।[८]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० १०।
२–वही, पृ० १०।
३–वही, पृ० ११।
४–वही, पृ० ११।
५–जिनदास चूर्णि, पृ० ११।
६–वही, पृ० ११।
७–वही, पृ० ११।
८–वही, पृ० ११।

वच्छ :

पुत्तणेहेणवा परिगिज्झति तेण वच्छा ।[1]

रोवग :

रुप्पति जम्हा तेण रोवगा ।[2]

मगल

मंगं नारकादिपु पवडंत सो लाति मगलं, लाति गेण्हइत्ति वुत्त भवति ।[3]

तव

तवो णाम तावयति अट्ठविह कम्मगठिं, नासेतित्ति वुत्तं भवइ ।[4]

देव

देवा णाम दीवं आगासं तमि आगासे जे वसति ते देवा ।[5]

अणसण :

अणसणं नाम जं न असिज्जइ अणसणं, णो आहारिज्जइत्ति वुत्तं भवति ।[6]

पाओगमण

पाओवगमणं इंगिणिमरणं भत्तपच्चक्खाण च, तत्थ पाओवगमणं णाम जो निप्पडि-कम्मो पादउव्व जओ पडिओ तओ पडिओ चेव ।[7]

नाय :

नज्जंति अणेण अत्था तेण नायं ।[8]

आहरण

आहरिज्जति अणेण अत्था तेण आहरणं ।[9]

दिट्ठंत

दीसंति अणेण अत्था तेण दिट्ठंतो ।[10]

ओवम्म

उवमिज्जति अणेण अत्था तेण ओवम्मं ।[11]

नियदिसण

दरिसिंति अणेण अत्था तेण निदरिसण ।[12]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ११ ।
२—वही, पृ० ११ ।
३—वही, पृ० १५ ।
४—वही, पृ० १५ ।
५—वही, पृ० १५ ।
६—वही, पृ० २१ ।
७—वही पृ० २१ ।
८—वही, पृ० ३९ ।
९—वही, पृ० ३९ ।
१०—वही, पृ० ३९-४० ।
११—वही, पृ० ४० ।
१२—वही, पृ० ४० ।

भ्रमर :

भ्राम्यति च रौति च भ्रमरः ।[1]

विहंगम :

विहेगच्छन्तीति विहंगमा ।[2]

पव्वइय :

पव्वइयो णाम पापाद्विरतो प्रव्रजितः ।[3]

अणगार

अणगारा नाम अगारं—गृहं तद् यस्य नास्ति सः अनगारः ।[4]

पासंडी

अट्ठविहाओ कम्मपासओ डीणो पासंडी ।[5]

चरग :

तवं चरतीति चरगो ।[6]

तावसो

तवे ठिओ तावसो ।[7]

भिक्खू

भिक्खणसीलो भिक्खू ।[8]

परिव्वायओ :

सव्वसो पावं परिवज्जयंतो परिव्वायओ भण्णइ ।[9]

निग्गंथो

वाहिरब्भतरेहिं गंथेहिं निग्गओ निग्गंथो ।[10]

संयतो

सव्वप्पगारेण अहिंसाइएहिं जतो सजतो ।[11]

मुत्त

मुत्तो वाहिरब्भंतरगंथेहिं ।[12]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० ६२ ।
२–वही, पृ० ६६ ।
३–वही, पृ० ७३ ।
४–वही, पृ० ७३ ।
५–वही, पृ० ७३ ।
६–वही, पृ० ७३ ।
७–वही, पृ० ७३ ।
८–वही, पृ० ७३ ।
९–वही, पृ० ७४ ।
१०–वही, पृ० ७४ ।
११–वही, पृ० ७४ ।
१२–वही, पृ० ७४ ।

तिण ताती :

जम्हा य संसारसमुद्दं तरति तरिस्संति वा तम्हा तिण्णो ताती ।[1]

नेय

जम्हा अण्णेवि भविए सिद्धिमह.पट्टग अविग्घपहेग नयइ तम्हा नेया ।[2]

मुणि

सावज्जेसु मोण सेवतित्ति मुणी ।[3]

खतो

खमतीति खतो ।[4]

दतो

इंदियकसाए दमतीति दंतो ।[5]

विरतो

पाणवधादीहिं आसवदारेहिं न वट्ठइत्ति विरतो ।[6]

लूही

अतपंतेहिं लूहेहिं जीवेइत्ति लूही अथवा कोहमाणा दो णेहो भण्णइ, तेमु रहितेसु लूहे ।[7]

तीरट्ठी

ससारसागरस्स तीरं अत्थयतित्ति वा मग्गइत्ति वा एगट्ठा तीरट्ठी ।[8]

तायिणो

तायंतीति तायिणो ।[9]

महव्वय

महत वत महव्वय ।[10]

सिला

सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला ।[11]

सत्थ

सासिज्जइ जेण तं सत्थ ।[12]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ७४ ।
२—वही, पृ० ७४ ।
३—वही, पृ० ७४ ।
४—वही, पृ० ७४ ।
५—वही, पृ० ७४ ।
६—वही, पृ० ७४ ।
७—वही, पृ० ७४ ।
८—वही, पृ० ७४ ।
९—वही, पृ० १७७ ।
१०—वही, पृ० १४४ ।
११—वही, पृ० १५४ ।
१२—वही, पृ० २२४ ।

हव्ववाहो

हव्व वहतीति हव्ववाहो ।[1]

सावज्ज

सहवज्जेण सावज्ज ।[2]

वाक्य :

वाच्यते इति वाक्यं ।[3]

गिरा

गिज्जतीति गिरा ।[4]

सरस्सति

सरो जीसे अत्थि सा सरस्सति ।[5]

भारही

भारो णाम अत्थो, तमत्थं धारयतीति भारही ।[6]

गो

पुरच्छिमातो लोगताओ पच्चत्थिमिल्लं लोगंतं गच्छतीति गो ।[7]

वाणी

वदिज्जते वयणिज्जा वा वाणी ।[8]

भाषा

भणिज्जतीति भासा ।[9]

पण्णवणी

पण्णविज्जती जीए सा पण्णवणी ।[10]

देसणा

अत्थं देसयतीति देसणा ।[11]

जोग :

वायापरिणामेण जीवस्स जोगो तेण कडुगफरुसादिपरिणामजोयणं जोगो ।[12]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० २२५ ।
२—वही, पृ० २२५ ।
३—वही, पृ० २३४ ।
४—वही, पृ० २३४ ।
५—वही, पृ०२३४ ।
६—वही, पृ०२३४ ।
७—वही, पृ०२३४-२३५ ।
८—वही, पृ०२३५ ।
९—वही, पृ०२३५ ।
१०—वही, पृ०२३५ ।
११—वही, पृ०२३५ ।
१२—वही, पृ०२३५ ।

पिसुण ·

पीतिसुण्ण करोतीति पिसुणो ।[1]

खवण

अण कम्मं भण्णइ, जम्हा अण खवयइ तम्हा खवणो भण्णइ ।[2]

१–जिनदास चूर्णि, पृ०३१६ ।

२–वही, पृ०३३४ ।

६–एकार्थक

आगमों में तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थो में एकार्थक शब्दो का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रथम दृष्टि में वे कुछ सार-हीन से लगते है परन्तु जब उनके अतस्तल तक पहुँचा जाता है तब यह ज्ञात होता है कि यह पद्धति ज्ञान-वृद्धि में बहुत ही सहायक रही है। इस पद्धति के माध्यम से विद्यार्थियों को कोष कण्ठस्थ करा दिया जाता था। एकार्थक शब्द संकलना का यह भी प्रयोजन था कि गुरु के पास अनेक देशीय शिष्य पढने थे उनको अपनी-अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दो के माध्यम से सहज ज्ञान कराया जा सके, इसलिए नाना देशीय शब्दो को एकार्थक कहकर संकलन कर दिया जाता था। इसे शब्द-कोष के निर्माण का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। नीचे एकार्थक शब्दों की तालिका दी जा रही है

पज्जवोत्ति वा भेदोत्ति वा गुणोत्ति वा एगट्ठा।[1]

णाणत्ति वा सवेदणत्ति वा अधिगमोत्ति वा चेतणत्ति वा भावत्ति वा एते सद्दा एगट्ठा।[2]

अहिंसाइ वा अज्जीवाइवातोत्ति वा पाणातिपातविरइत्ति वा एगट्ठा।[3]

अवड्ढति वा अद्धंति वा एगट्ठा।[4]

आलोयणंति वा पगासकरणति वा अक्खणति वा विसोहित्ति वा एगट्ठा।[5]

मइत्ति वा मुत्ति (सइ) त्ति वा सण्णत्ति वा आभिणिवोहियणाणति वा एगट्ठा।[6]

परिज्झति वा पत्थणंति वा गिद्धित्ति वा अभिलासोत्ति वा लेप्पत्ति वा कखति वा एगट्ठा।[7]

विउस्सग्गोत्ति वा विवेगोत्ति वा अधिकिरणति वा छड्डणंति वा वोसिरणति वा एगट्ठा।[8]

चेयण्णति वा उवयोगोत्ति वा अक्खरत्ति वा एगट्ठा।[9]

अपिवति आदियतित्ति एगट्ठा।[10]

अत्थयतित्ति वा मग्गइत्ति वा एगट्ठा।[11]

चयाहित्ति वा छड्डेहित्ति वा जहाहित्ति वा एगट्ठा।[12]

१–जिनदास चूर्णि, पृ०४।
२–वही, पृ०१०।
३–वही, ,, २०।
४–वही, ,, २२।
५–वही, ,, २५।
६–वही, ,, २९।
७–वही, पृ०३०।
८–वही, ,, ३७।
९–वही, ,, ४६।
१०–वही, ,, ६३।
११–वही, ,, ७४।
१२–वही, ,, ८६।

आयरयतित्ति वा तं तं भाव गच्छइत्ति वा आयरइत्ति वा एगट्ठा ।[1]

धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा ।[2]

नाणति वा उवयोगेति वा एगट्ठा ।[3]

कसायओत्ति वा भावोत्ति वा परियाओत्ति वा एगट्ठा ।[4]

ऊसढति वा उच्चति वा एगट्ठा ।[5]

भद्दगति वा कल्लाणंति वा सोभणंति वा एगट्टा ।[6]

पियत्तित्ति वा आपियइत्ति वा एगट्ठा ।[7]

तवस्सीत्ति वा साहुत्ति वा एगट्ठा ।[8]

अणति वा रिणत्ति वा एगट्ठा ।[9]

अभिलसति वा पत्थयंति वा कामयंति वा अभिप्पायति वा एगट्ठा ।[10]

विच्छिन्नति वा अणतति वा विउलति वा एगट्ठा ।[11]

बीयंति वा पइट्ठाणति वा मूलति वा एगट्ठा ।[12]

समुस्सयोत्ति वा रासित्ति वा एगट्ठा ।[13]

वुत्तति वा भणितति वा धारयंति वा सजमति वा निमित्तंति वा एगट्ठा ।[14]

वण्णियति वा देसियति वा एगट्ठा ।[15]

वज्जति वेरति वा परति वा एगट्ठा ।[16]

पाणाणि वा भूयाणि वा एगट्ठा ।[17]

मग्गणति वा पिथकरणति वा विवेयणाति वा विजओत्ति वा एगट्ठा ।[18]

सिणाणति वा ण्हाणति वा एगट्ठा ।[19]

छड्डिउत्ति वा जढोत्ति वा एगट्ठा ।[20]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ९४ ।
२—वही, पृ० ११६ ।
३—वही, „ १२० ।
४—वही, „ १२१ ।
५—वही, „ १९९ ।
६—वही, „ २०१ ।
७—वही, „ २०२ ।
८—वही, „ २०३ ।
९—वही, „ २०४ ।
१०—वही, „ २१५ ।
११—वही, पृ० २१५ ।
१२—वही, „ २१९ ।
१३—वही, „ २१९ ।
१४—वही, „ २२१ ।
१५—वही, „ २२२ ।
१६—वही, „ २२५ ।
१७—वही, „ २२८ ।
१८—वही, „ २२९ ।
१९—वही, „ २३१ ।
२०—वही, „ २३१ ।

उप्पिलावणंति वा प्लावणति वा एगट्ठा ।[1]
चिक्कणति वा दारुणति वा एगट्ठा ।[2]
मन्नति वा जाणति वा एगट्ठा ।[3]
उवेंति वा वयंति वा एगट्ठा ।[4]
लंगलति वा हलति वा एगट्ठा ।[5]
वहवेत्ति वा अणेगेत्ति वा एगट्ठा ।[6]
मुणित्ति वा णाणित्ति वा एगट्ठा ।[7]
परिज्जभासित्ति वा परिक्खभासित्ति वा एगट्ठा ।[8]
गुणोत्ति वा पज्जतोत्ति वा एगट्ठा ।[9]
आदियतित्ति वा गेण्हितित्ति वा तेसिं दोसाणं आयरणंति वा एगट्ठा ।[10]
भणियति वा वुत्तति वा एगट्ठा ।[11]
पेमति वा रागोत्ति वा एगट्ठा ।[12]
दारुणसद्धो कक्कससद्दो विय एगट्ठा ।[13]
अणुत्तरंति अणुत्तमति वा एगट्ठा ।[14]
विणिच्छओत्ति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्ठा[15]
वियंजितंति वा तत्थंति वा एगट्ठा ।[16]
अत्तवंति वा विन्नवति वा एगट्ठा ।[17]
पदति वा भूताधिकरणति वा हणणंति वा एगट्ठा ।[18]
लयणति वा गिहंति वा एगट्ठा ।[19]
णिक्खंतोत्ति वा पव्वइओत्ति वा एगट्ठा ।[20]

१–जिनदास चूर्णि, पृ० २३१ ।
२–वही, पृ० २३२ ।
३–वही, „ २३३ ।
४–वही, „ २३४ ।
५–वही, „ २५४ ।
६–वही, „ २६१ ।
७–वही, „ २६३ ।
८–वही, „ २६४ ।
९–वही, „ २६६ ।
१०–वही, „ २६६ ।
११–वही, पृ० २७४ ।
१२–वही, „ २८३ ।
१३–वही, „ २८३ ।
१४–वही, „ २८७ ।
१५–वही, „ २८७ ।
१६–वही, „ २८९ ।
१७–वही, „ २८९ ।
१८–वही, „ २९० ।
१९–वही, „ २९० ।
२०–वही, „ २९३ ।

संमओत्ति वा अणुमओत्ति वा एगट्ठा।[१]

मलति वा पावंति वा एगट्ठा।[२]

गुणेतित्ति वा परियट्टतित्ति वा एगट्ठा।[३]

अभूतिभावोत्ति वा विणासभावोत्ति वा एगट्ठा।[४]

पउंजेज्जति वा कुव्विज्जत्ति वा एगट्ठा।[५]

पभासइत्ति वा उज्जोएइत्ति वा एगट्ठा।[६]

उवट्ठिओत्ति वा अब्भुट्ठिओत्ति वा एगट्ठा।[७]

सालत्ति वा साहत्ति वा एगट्ठा।[८]

निगच्छंति वा पावंति वा एगट्ठा।[९]

उभओत्ति वा दुहओत्ति वा एगट्ठा।[१०]

पुज्जोणाम पूयणिज्जोत्ति वा एगट्ठा।[११]

चरतित्ति वा भक्खतित्ति वा एगट्ठा।[१२]

सक्कति वा सहयत्ति वा एगट्ठा।[१३]

दोमणस्संति वा दुम्मणियति वा एगट्ठा।[१४]

सययंति वा अणुवद्धति वा एगट्ठा।[१५]

सोऊण वा सोच्चाण वा एगट्ठा।[१६]

मुणित्ति वा नाणित्ति वा एगट्ठा।[१७]

१--जिनदास चूर्णि, पृ० २९३।
२-वही, ,, २९४।
३-वही, ,, २९७।
४-वही, ,, ३०२।
५-वही, ,, ३०६।
६-वही, ,, ३०७।
७-वही, ,, ३०८।
८-वही, ,, ३०८।
९-वही, ,, ३१४।
१०-वही, पृ० ३१६।
११-वही, ,, ३१८।
१२-वही, ,, ३१९।
१३-वही, ,, ३२०।
१४-वही, ,, ३२१।
१५-वही, ,, ३२३।
१६-वही, ,, ३२४।
१७-वही, ,, ३२४।

वयंतित्ति वा गच्छतित्ति वा एगट्ठा ।[1]
ठाणंति वा भेदोत्ति वा एगट्ठा ।[2]
चउव्विहत्ति वा चउभेदत्ति वा एगट्ठा ।[3]
पेहतित्ति वा पेच्छतित्ति वा एगट्ठा ।[4]
अट्ठियतित्ति वा आयरइत्ति वा एगट्ठा ।[5]
कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठया एगट्ठा ।[6]
नइयंति वा सेयंति वा एगट्ठा ।[7]
पडिपुन्नंति वा निरवसेसंति वा एगट्ठा ।[8]
कुव्वइत्ति वा घडइत्ति वा एगट्ठा ।[9]
खेमंति वा सिवंति वा एगट्ठा ।[10]
वोसट्ठंति वा वोसिरियंति वा एगट्ठा ।[11]
मुच्छासद्दो य गिद्धिसद्दो य साधुत्ति वा एगट्ठा ।[12]
संगोत्ति वा इंदियत्थोत्ति वा एगट्ठा ।[13]
भिक्खुत्ति वा साधुत्ति वा एगट्ठा ।[14]
अकुडिलेत्ति वा अणिहोत्ति वा एगट्ठा ।[15]
आइक्खेत्ति वा पवेदइत्ति वा एगट्ठा ।[16]
महामुणीत्ति वा महानाणीत्ति वा एगट्ठा ।[17]
उवेइत्ति वा गच्छइति वा एगट्ठा ।[18]
ततंति वा सुत्तोत्ति वा गंथोत्ति वा एगट्ठा ।[19]
णामंति वा ठाणंति वा भेदत्ति वा एगट्ठा ।[20]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३२४ ।
२—वही, पृ० ३२५ ।
३—वही, ,, ३२६ ।
४—वही, ,, ३२६ ।
५—वही, ,, ३२७ ।
६—वही, ,, ३२८ ।
७—वही, ,, ३२९ ।
८—वही, ,, ३२९ ।
९—वही, ,, ३२९ ।
१०—वही, ,, ३२९ ।
११—वही, पृ० ३४४ ।
१२—वही, ,, ३४५ ।
१३—वही, ,, ३४६ ।
१४—वही, ,, ३४६ ।
१५—वही, ,, ३४७ ।
१६—वही, ,, ३४८ ।
१७—वही, ,, ३४८ ।
१८—वही, ,, ३४८ ।
१९—वही, ,, ३४९ ।
२०—वही, ,, ३५३ ।

८—सभ्यता और संस्कृति

दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। उस पर आचार्य भद्रबाहु कृत ३७१ गाथाओं वाली निर्युक्ति और अगस्त्यसिंह स्थविर (वि० की तीसरी या पाँचवी शताब्दी) तथा जिनदास महत्तर (वि० की सातवी शताब्दी) कृत चूर्णियाँ हैं। आचार्य हरिभद्र (वि० की ६ वी शताब्दी) ने उस पर टीका लिखी। जो तथ्य मूल आगम में थे, उन्हें इस व्याख्याकारो ने अपने-अपने समय के अनुकूल विकसित किया है। प्रस्तुत अध्ययन मूल तथा उक्त व्याख्या-ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है। इससे आगम-कालीन तथा व्याख्या-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश पडता है।

गृह :

गृह अनेक प्रकार के होते थे।[1]

(१) खात—भोंहरा।

(२) उच्छ्रित—प्रासाद।

(३) खात-उच्छ्रित—ऐसा प्रासाद जहाँ भूमि-गृह भी हो। एक खंभे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता था।[2]

मकान झरोखेदार होते थे।[3] उनकी दीवारें चित्रित होती थी।[4] मकानो के द्वार शाखामय होते थे। दरवाजों के ताला लगाया जाता था।[5] नगर-द्वार के बड़े-बडे दरवाजे

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ८९

घरं तिविहं-खातं उस्सितं खाओसितं, तत्थ खायं जहा भूमिघरं, उस्सितं जहा पासाओ, खातउस्सितं जहा भूमिघरस्स उवरि पासादो।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र २१८ :

अत्रैकस्तम्भ. प्रासाद.।

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र २३१ :

गवाक्षकादीन् ···।

४—दशवैकालिक ८।५४ :

चित्तभित्ति न निज्झाए।

५—हारिभद्रीय टीका, पत्र १८४ :

द्वारयन्त्रं वाऽपि ·।

होते थे। उनमें परिघ लगा हुआ होता था और गोपुर के किंवाड आदि के आगल लगी हुई होती थी।[१]

घरो के द्वार शाणी और प्रावार से आच्छादित रहते थे। शाणी अतसी और वल्क से तथा प्रावार मृग के रोंए से बनते थे।[२] निर्धन व्यक्तियों के घर काँटों की डाली से ढके रहते थे। घर गोबर से लीपे जाते थे।[३]

घरो में स्नान-गृह और शौच-गृह होते थे। भिक्षु घर की मर्यादित भूमि में ही जा सकते थे। उसका अतिक्रमण सन्देह का हेतु माना जाता था।[४]

घरो में फूलों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता था। कणवीर, जाति, पाटल कमल, उत्पल, गर्दभक, मल्लिका, शाल्मली आदि पुष्प व्यवहृत होते थे। रसोई घर को उत्पल से सजाया जाता था।[५]

घर भाडे पर भी मिल जाते थे।[६]

कई अपवरकों के द्वार अत्यन्त नीचे होते थे। वहाँ भोजन सामग्री रहती थी।[७]

उपकरण :

विना अवष्टंभ वाली कुरसी (आसदी), आसालक—अवष्टंभयुक्त, पर्यंक, पीठ आदि आसन लकडी से बनाए जाते थे और बेंत या डोर से गूथे जाते थे। कालान्तर में वे कहीं-कहीं खटमल आदि से भर जाते थे।[८] पीढा पलाल[९] या बेंत का होता था।[१०]

१—हारिभद्रीय टीका, पत्र १८४।

२—(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र १६६-१६७।
(ख) अगस्त्य चूर्णि—सरोमोपावारतो।

३—दशवैकालिक, ५।१।२१।

४—वही, ५।१।२४-२५।

५—वही, ५।१।२१; ५।२।१४-१६।

६—हारिभद्रीय टीका, पत्र २६४ :
भाटकगृहं वा।

७—दशवैकालिक, ५।१।२०।

८—(क) दशवैकालिक, ६।५४-५५।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० २८८-२८९।

९—जिनदास चूर्णि, पृ० २२९ :
पीढगं पलाल पीठगादि।

१०—हारिभद्रीय टीका, पत्र २०४ :
पीठके—वेत्रमयादौ।

साधु पाँच प्रकार के तृण लेते थे [1]

(१) शाली के तृण
(२) व्रीहि के तृण
(३) कोद्रव के तृण
(४) रालक के तृण
(५) अरण्य के तृण

पाँच प्रकार के चर्म उपयोग में आते थे :[2]

(१) बकरे का चर्म
(२) मेष का चर्म
(३) गाय का चर्म
(४) भैंस का चर्म
(५) मृग का चर्म

काठ या चमडे के जूते पहने जाते थे। आतप और वर्षा से बचने के लिए छत्र रखे जाते थे।[3]

कम पानी वाले देशों में काठ की बनी हुई कुण्डी जल से भर कर रखी जाती थी, जहाँ लोग स्नान तथा कुल्ला किया करते थे। उसे 'उदगदोणी' कहा जाता था।[4] गाँव-गाँव में रहंट होते थे और उनसे जल का सचार लकडी से बने एक जल-मार्ग से होता था। इसे भी 'उदगदोणी कहते थे।[5] स्वर्णकार काठ की अहरन रखते थे।[6]

थाली, कटोरे आदि वर्तन विशेषत कांसी के होते थे। घनवानो के यहाँ सोने-चाँदी के वर्तन होते थे। प्याले, क्रीडा-पान के वर्तन, थाल या खोदक को 'कस' कहते थे। कच्छ

१–हारिभद्रीय टीका, पत्र २५।
२–वही, पत्र २५ .
अय एल गावि महिसी मियाणमजिण च पंचमं होइ।
३–दशवैकालिक, ३।४।
४–जिनदास चूर्णि, पृ०२५४।
५–हारिभद्रीय टीका, पत्र २१८ :
उदकद्रोण्योऽरहट्टजलघारिका।
६–वही, पत्र २१८ :
गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी।

आदि देशो में कुण्डे का आकार वाला भाजन[1] अथवा हाथी के पैर के आकार वाला पात्र 'कुण्डमोद' कहलाता था।[2]

सुरक्षा के लिए भोजन के या अन्यान्य पात्र, जलकुंभ, चक्की, पीढ, शिला-पुत्र आदि से ढांके जाते थे। तथा बहुत काल तक रखी जाने वाली वस्तुओं के पात्र मिट्टी से लीपे जाते थे और श्लेष द्रव्यो से मूदे जाते थे।[3]

सामान्यत बिछौना ढाई हाथ लम्बा और एक हाथ चार अँगुल चौडा होता था।[4]

अनेक प्रकार के आसन, पर्यंक आदि शयन और रथ आदि वाहन काठ से बनाए जाते थे। उसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का काठ काम में लाया जाता था। लोहे का प्रयोग कम होता था।[5]

रथ सवारी का वाहन था और शकट प्राय' भार ढोने के काम आता था। रथ आदि वाहन तिनिस वृक्ष से बनाए जाते थे।[6]

भोजन :

मिष्टान्न में रसालु को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। दो पल घृत, एक पल मधु, एक आढक दही और बीस मिर्च तथा उन सबसे दुगुनी खाण्ड या गुड मिला कर रसालु बनाया जाता था।[7]

भोजन के काम में आने वाली निम्न वस्तुओं का संग्रह किया जाता था—नमक, तेल, घी, फाणित—राव।[8]

१—अगस्त्य चूर्णि।

२—जिनदास चूर्णि, पृ० २२७ :

हत्थपदागितीसंठियं कुंडमोयं।

३—दशवैकालिक, ५।१।४५।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ३१९ :

संथारया अड्ढाइज्जा हत्था दीहत्तणेण, वित्थारो, पुण हत्थं सचउरंगुलं।

५—दशवैकालिक, ७।२९।

६—हारिभद्रीय टीका, पत्र २३९।

७—जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २८९-२९०

दो घयपला मधु पलं दहियस्स य आढय मिरीय वीसा।

खंडगुला दो भागा एस रसालू निवइजोगो॥

८—दशवैकालिक, ६।१७।

घृत और मधु घडो में रखे जाते थे। उन घडो को घृत-कुम्भ और मधु-कुम्भ कहा जाता था।[१]

तित्तिर आदि पक्षियों का मांस खाया जाता था और इन पक्षियों को वेचने वाले लोग गली-गली में घूमा करते थे।[२]

लोग ऋतु के अनुसार भोजन में परिवर्तन कर लेते थे। शरद्-ऋतु में वात-पित्त को नष्ट करने वाले, हेमन्त में उष्ण, वसन्त में श्लेष्म को हरने वाले, ग्रीष्म में शीतल और वर्षा में उष्ण पदार्थों का प्रयोग करते थे।[३]

घरों में अनेक प्रकार के पानको से घडे भरे रहते थे। कांजी, तुषोदक, यवोदक, सौवीर आदि-आदि पानक सर्व-सुलभ थे।[४] हरिभद्र ने पानक का अर्थ आरनाल (कांजी) किया है।[५] आचारांग (२।१।७,८) में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। इन्हें विधिवत् निष्पन्न किया जाता था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है। आगमकाल में पेय पदार्थों के लिए तीन शव्द प्रचलित थे—(१) पान, (२) पानीय और (३) पानक। 'पान' से सभी प्रकार के मद्यो का, 'पानीय' से जल का और 'पानक' से द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न पेय का ग्रहण होता था।[६]

पके हुए उडद को कुल्माष कहा जाता था।[७] मन्थु का भोजन भी प्रचलित था।[८] सम्भव है यह सुश्रुत का 'मन्थ' शव्द हो। इसका लक्षण इस प्रकार है, जौ के सत्तू घी में भून कर शीतल जल में न वहुत पतले, न वहुत सान्द्र घोलने से 'मन्थ' वनता है।[९]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३३०।

२—वही, पृ० २२९-२३०।

३—वही, पृ० ३१५ :

कालं पडुच्च आयरियो वुड्ढवयत्थो तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमंते उण्हाणि, वसंते हिंमरहाणि (सिंभहराणि) गिम्हे सीयकराणि, वासासु उण्हवण्णाणि, एवं ताव उडुं उडुं पप्प गुरूण अट्ठाए दव्वाणि आहरिज्जा।

४—दशवैकालिक, ५।१।४७-४८।

५—हारिभद्रीय टीका, पत्र १७३ :

पानकं च आरनालादि।

६—प्रवचन सारोद्धार, द्वार २५९, गाथा १४१० से १४१७।

७—हारिभद्रीय टीका, पत्र १८१।

८—दशवैकालिक ५।१।९८।

९—सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्ययन ४६।४२५।

फलमन्थु और बीजमन्थु का भी उल्लेख मिलता है।[१] मन्थु खाद्य द्रव्य भी रहा है और सुश्रुत के अनुसार इसका उपयोग अनेक प्रकार के रोगो के प्रतिकार के लिए किया जाता था।[२]

पूर्व देशवासी ओदन को 'पुद्गल', लाट देश और महाराष्ट्र वाले 'कूर', द्रविड लोग 'चोर' और आन्ध्र देशवासी 'कनायु' कहते थे।[३]

कोकण देश वालो को पेया प्रिय थी और उत्तरापथ वालो को सत्तू।[४]

उस समय जो फल, शाक, खाद्य, पुष्प आदि व्यवहृत होते थे, उनकी तालिकाएँ नीचे दी जाती हैं

फल :

(१) फलो के निम्न नाम मिलते हैं ·

१ इक्षु (३।७)।

२ अनमिष (५।१।७३) अननास। अनिमिष का अर्थ अननास किया गया है। किन्तु इसका अर्थ मत्स्याक्षुक (पत्तूर या मछेछी) किया जा सकता है। इसे अग्नि-दीपक, तिक्त, प्लीहा, अर्श नाशक, कफ और वात को नष्ट करने वाला कहा गया है।[५]

३ अस्थिक (५।१।७३) अगस्तिया, हथिया, हदगा। इसके फूल और फली भी होती है। इसकी फली का शाक भी होता है।[६]

४ तिंदुय (५।१।७३) तेन्दु—यह भारत, लंका तथा पूर्वी बंगाल के जंगलो में पाया जाने वाला एक मझोले आकार का वृक्ष है। इसकी लकडी को आबनूस कहते है।

५. बिल्व (५।१।७३)।

६. कोल (५।२।२१) बेर।

१—दशवैकालिक, ५।२।२४।

२—सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्ययन ४६।४२६-२८।

३—जिनदास चूर्णि, पृ० २३६ :

पुव्वदेसयाणं पुग्गलि ओदणो भण्णइ, लाडमरहट्ठाणां कूरो, द्रविडाणां चोरो, अन्ध्राणां कनायुं।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ३१९।

५—अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, ६।१०० ·

पत्तूरः दीपनस्तिक्त प्लीहार्शकफवातजित्।

६—शालिग्राम निघण्टु भूषण, पृ० ५२३।

७. वेलुय (५।२।२१) बिल्व या वेश करिल्ल ।[1]

८ कासवनालिय (५।२।२१) श्रीपर्णि फल, कसारु ।[2]

९. नीम (५।२।२१)कदम्ब का फल ।[3]

१०. कवित्थ (५।२।२३)कैथ ।

११ माउलिंग (५।२।२३) बिजौरा ।[4]

१२ बिहेलग (५।२।२४) बहेड़ा ।

१३ पियाल (५।२।२४) प्याल का फल। चिरौंजी प्रियाल की मज्जा को कहा जाता है ।[5]

फल की तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—(१) वेलोचित—अतिपक्व, (२) टाल—जिसमें गुठली न पड़ी हो, (३) द्वैधिक—जिसकी फाके की जा सकें ।[6]

आम आदि फलो को कृत्रिम उपायो से भी पकाया जाता था । कई व्यक्ति उन्हें गढो में, कोद्रव धान्य में तथा पलाल आदि में रख कर पकाते थे ।[7]

अष्टागहृदय में आम की तीन अवस्थाओं का उल्लेख है और उनके भिन्न-भिन्न गुण बताए हैं—(१) कच्चा आम (बिना गुठली का टिकारो) यह वायु, पित्त और रक्त को दूषित करता है, (२) कच्चा आम (गुठली पडा हुआ) यह कफ-पित्त कारक होता है, (३) पका आम—यह गुरु, वायु-नाशक होता है और जो अम्ल होता है वह कफ एव शुक्र को बढाता है ।[8]

१–अगस्त्य चूर्णि :

वेलुयं विल्लं वंसकरिल्लो वा ।

२–वही :

कासवनालियं सीवण्णी फलं कस्सारुकं ।

३–देखो दशवैकालिक (भाग २), पृ० ३०६, टिप्पण ३८ ।

४–बीजपुर, मातुलिंग, रुचक, फल पूरक—इसके पर्यायवाची नाम हैं। देखो शालिग्राम निघण्टु भूषण, पृ० ५७८ ,

५–अष्टाङ्गहृदय, सूत्र स्थान, ६।१२३-२४ ।

६–दशवैकालिक ७।३२ ।

७–हारिभद्रीय टीका, पत्र २१९ :

गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति ।

८–अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।१२८,१२९ :

वातपित्तासृक्कृद् बालं, बद्धास्थिकफपित्तकृद् ।

गुर्वाम्रं वातजित् पक्वं, स्यादम्लं कफशुक्रकृत् ॥

शाक

निम्न शाकों के नाम प्राप्त होते हैं :

(१) मूली (३।७)

(२) सिंगवेर (३।७) आर्द्रक। यह शाक या अन्न के खाद्य, पेय पदार्थ बनाने में संस्कार करने के लिए (मशाले के रूप में) प्रयुक्त होता था।[1]

(३) सन्निर (५।१।७०) पत्ती का शाक।

(४) तुंबाग (५।१।७०) घीया।

(५) सालुयं (५।२।१८) कमल कन्द।

(६) विरालिय (५।२।१८) पलाश कन्द। इसे क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवल्ली भी कहा जाता था।[2]

(७) मुणालिय (५।२।१८) पद्म-नाल। यह पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैसा होता है।[3]

(८) कुमद-नाल (५।२।१८)।

(९) उत्पल-नाल (५।२।१८)।

(१०) सासवनालिय (५।२।१८) सरसों की नाल।

(११) पूइ (५।२।२२) पोई शाक। पूति—यह 'पूतिकरंज' का संक्षिप्त भी हो सकता है। शाकवर्ग में इसका उल्लेख भी है। चिरविल्व (पूतिकरज) के अंकुर अग्नि-दीपक, कफ-वात-नाशक और मल-रेचक है।[4]

(१२) पिन्नाग (५।२।२२) पिण्याक—सरसो आदि की खली।

(१३) मूलगत्तिय (५।२२३) मूलक-पोतिका—कच्ची मूली।[5] अष्टांगहृदय में वाल (कच्ची, अपक्व) और वडी (पक्की) मूली के गुण-दोष भिन्न-

---

१–सुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।२२१-२२२।

२–अगस्त्य चूर्णि :

विरालियं पलासकंदो अहवा छीरविराली जीवन्ती, गोवल्ली इति एसा।

३–जिनदास चूर्णि, पृ० १९७ :

मुणालिया गयदंतसन्निमा पउमिणिकंदाओ निग्गच्छति।

४–अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।९८।

५–सुश्रुत, ४।६।२५७।

भिन्न बतलाए गए हैं।[1] सुश्रुत में छोटी मूली के लिए मूलक-पोतिका शब्द व्यवहृत हुआ है।[2] मूलगत्तिया का संस्कृत रूप यही होना चाहिए।

खाद्य :

निम्न व्यञ्जनो के नाम मिलते है :

(१) सक्कुलि (५।१।७१) शष्कुली—तिलपपडी।[3] चरक और सुश्रुत में इसका अर्थ कचौरी आदि किया है।[4]

(२) फणिय (५।१।७१)—गीला गुड (राब)।

(३) पूय (,,)—पूआ।

(४) सत्तुचुण्ण (,,)—शक्तु चुर्ण—सत्तू का चूर्ण।

(५) मंथु (५।१।९८)—बेर जौ आदि का चूर्ण।

(६) कुम्मास (,,)—कुल्माष—गोल्ल देश में वे जौ के बनाए जाते थे।[5] तिल पप्पडग (५।२।२१) तिल पर्पटक। इसका अर्थ तिल पपडी किया गया है। किन्तु हो सकता है कि इसका अर्थ वनस्पति परक हो। शाक वर्ग में तिल पर्णिका (बदरक) और पर्पट (पित्तपापडा) का उल्लेख मिलता है।[6] 'तिल' तिल-पर्णिका का सक्षिप्त रूप हो तो तिल पप्पडग का अर्थ तिल पर्णिका और पित्त-पापडा भी हो सकता है।

(७) चाउलंपिट्ठ (५।२।२२)—चावल का आटा[7] या भूने हुए चावल।[8]

१—अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान, ६।१०२-१०४।

२—सुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।२४० .

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचकी वह्निदीपनी।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ॥

३—जिनदास चूर्णि, पृ०१८४ : सक्कुली'ति पप्पडिकादि।

४—सुश्रुत—भक्ष्यपदार्थ वर्ग ४६।५४४।

५—जिनदास चूर्णि, पृ०१९० :

कुम्मासा जहा गोल्लविसए जवमया करेंति। देखो दशवैकालिक (भाग २) पृ०२८५ टिप्पण २२९।

६—अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान ६।७६।

७—अगस्त्य चूर्णि पृ०१९८।

चाउलं पिट्ठो लोट्ठो।

८—जिनदास चूर्णि, पृ०१९८ :

चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ।

कच्चे चावलो का आटा भी खाया जाता था। सुश्रुत में इसे भग्न संधानकर, कृमि और प्रमेह को नष्ट करने वाला बताया गया है।[1]

(८) तिलपिट्ठ (५।२।२२)—तेल का पिट्ठ।

(९) तैल (६।१७)।

(१०) घृत (६।१७)।

(११) पिट्ठ-खज्ज (७।३४) पृथु-खाद्य।

चूर्ण और मन्थु

कोल-चुन्न (५।१।७१) बेर का चूर्ण।

फल-मन्थु (५।२।२४) फलों का चुर्ण।

बीज-मन्थु (५।२।२४) जौ, उडद, मूग आदि बीजो का चूर्ण।

पुष्प

उत्पल (५।२।१४) नील-कमल।

पद्म (५।२।१४) रक्त-कमल।

कुमुद (५।२।१४) श्वेत-कमल। इसका नाम गर्दभ है।[2]

मगदतिका (५।५।१४) मोगरा, मेंहदी।[3]

सुश्रुत, अष्टागहृदय आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों के शाक-वर्ग में इन शाको का उल्लेख मिलता हैं। फल-वर्ग में यहाँ आए हुए फलों का भी उल्लेख है। पिण्याक, तिलपिष्ट आदि भी खाए जाते थे। सुश्रुत में बताया है कि पिण्याक (सरसों, अलसी आदि की खली) तिल कल्क या तिलो की खल, स्थूणिका (तिल कल्क से बने-बडे) तथा सूखी शाकें सर्व दोषों को प्रकुपित करते हैं।[4]

१—सुश्रुत, सूत्र स्थान ४६।२१७ :
सन्धानकृत्पिष्टमामं, ताण्डुलं, कृमिमेहनुत्।

२—अगस्त्य चूर्णि :
कुमुदं गद्दभगं।

३—हारिभद्रीय टीका, (पत्र १८५) मे इसका अर्थ मोगरा किया है। अष्टांग-हृदय (चिकित्सित स्थान २।२७) मे मदयन्तिका शब्द आया है और उसका अर्थ मेहदी किया है। रक्त-पित्त नाशक क्वाथ तैयार करने मे इसका उपयोग होता था। संभव है मगदन्तिका और मदयन्तिका एक शब्द हो।

४—सुश्रुत, सूत्र स्थान, ४६।२१७ :
पिण्याक-तिलकल्क-स्थूणिका शुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि।

कमल कन्द, पलाशकन्द, पद्म-नाल, सरसो की नाल, कुमुद-नाल, उत्पल-नाल आदि-आदि अपक्व खाए जाए जाते थे ।[1]

सरसों की नाल शीत-काल में उष्ण होती है—यह मानकर लोग उसे कच्ची खा लेते थे ।[2]

भोजन को नमी तथा जीव-जन्तुओ से बचाने के लिए मचाने खम्भे और प्रासाद पर रखा जाता था । मचान चार लट्ठों को बाध कर बनाया जाता था । उस पर चढने के लिये निसैनी, फलक और पीढ का उपयोग होता था ।[3]

बाजारो में मिठाइयाँ बिक्री के लिए रखी जाती थी ।[4]

जिस भोजन में छौंका हुआ शाक और यथेष्ठ मात्रा में सूप दिया जाता, वह अच्छा भोजन माना जाता और जिसमें बघार-रहित शाक होता, वह साधारण (शुष्क) भोजन माना जाता था ।[5]

भोजन आदि को ठंडा करने के लिए तथा अपने आप में हवा लेने के लिए ताल-वृन्त, पद्मिनी-पत्र, वृक्ष की डाली, मोर-पीच्छ, मोर-पीच्छो का समूह, चामर आदि का उपयोग किया जाता था ।[6]

आभूषण :

सोने-चादी के आभूषग बनाए जाते थे। सोने के आषभूणो में हीरा, इन्द्र-नील मरकत और मणि जडे जाते थे ।[7] मस्तक पर चूडामणि बाँधा जाता था ।[8]

प्रसाधन :

प्रसाधन में अनेक पदार्थो का उपयोग होता था । होठ तथा नखों को रंगना, पैरो पर अलक्तक रस लगाना, दाँतों को रगना अदि किया जाता था ।

१—जिनदास चूर्णि, पृ० १९७ ।

२—वही, पत्र १९७ :

सिद्धत्थगणालो तमवि लोगोऊणसंतिकाऊण आमगं चेव खायति ।

३—दशवैकालिक ५।१।६७ ।

४—वही, ५।१।७१,७२ ।

५—दशवैकालिक, ५।१।९८ ।

६—दशवैकालिक, ४ सूत्र २१ ।

७—जिनदास चूर्णि, पृ० ३३० :

वइरिंदनीलमरगयमणिणो इव जच्चकणगसहसंबद्धा ।

८—वही, पत्र ३५० :

चूलामणी सा य सिरे कीरई ।

स्नान दो प्रकार से होता था—देश स्नान तथा सर्व स्नान। देश स्नान में मस्तक को छोडकर शेष अंग धोए जाते थे और सर्व स्नान में मस्तक से एडी तक सर्वाङ्ग स्नान किया जाता था। स्नान करने में उष्ण या ठडा दोनो प्रकार का जल काम में आता था तथा अनेक प्रकार के पदार्थ भी काम में लाए जाते थे

(१) स्नान—यह एक प्रकार का गन्ध-चूर्ण था, जिससे शरीर का उद्वर्तन किया जाता था।

(२) कल्क—स्नान करने से पूर्व तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगन्वित उबटन लगाया जाता था। इसे कल्क, चूर्ण-कपाय या गन्धाट्टक कहा जाता था।

(३) लोध्र—यह एक प्रकार का गन्ध-द्रव्य था, जिसका प्रयोग ईषत्-पाण्डुर छवि करने के लिए किया जाता था।

(४) पद्मक-पद्माक-पद्म-केसर।[1]

आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन :

स्थान-स्थान पर इन्द्रजालिक घूमते थे और लोगो को आकृष्ट करके अपनी आजीविका चलाते थे।[2] नट विद्या का प्रचार था नाट्य मण्डलियाँ स्थान-स्थान पर घूमा करती थी।[3] ये मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। शतरंज खेला जाता था।[4] नालिका एक प्रकार का द्यूत था। चतुर-खिलाडी अपनी इच्छानुसार पासा न डाल दे—इसलिए पासों को नालिका द्वारा डाला जाता था।[5]

नगर के समीप उद्यान होते थे। वे अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि में बहु-जन उपभोग्य होते थे। लोग यहा उद्यानिका—सहभोज करते थे।[6] वालक भी स्थान-स्थान पर मनुष्य-क्रीडा करते थे।[7] गो, महिष, कुक्कुट और लावक को आपस में लडाया जाता था और हजारो व्यक्ति उसे देखने एकत्रित होते थे।[8]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० २३२।
२—वही, पृ० ३२१।
३—वही, पृ० ३२२।
४—दशवैकालिक ३।४।
५—वही, ३।४।
६—जिनदास चूर्णि, पृ० २२।
७—वही, पृ० १७१,७२।
८—वही, पृ० २६२।

विश्वास :

वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वाले लोग बादल, आकाश और राजा को देव मानते थे और उनकी उस विधि से पूजा भी करते थे।[१] वृक्ष-पूजा का प्रचलन था।

रोग और चिकित्सा :

शारीरिक वेगो को रोकने से अनेक रोग उत्पन्न होते है। मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।[२] वमन को रोकने से वल्गुली या कोढ भी उत्पन्न हो जाता है।[३] सहस्र पाक आदि पकाए हुए तेल अनेक रोगो में काम आते थे।[४]

नक्षत्रो के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाले, स्वप्न-शास्त्री, वशीकरण के पार गामी, अतीत-अनागत और वर्तमान को बताने वाले नैमित्तिक तथा यांत्रिक सर्वत्र पाए जाते थे। लोगों का इनमें बहुत विश्वास था। सर्प, बिच्छू आदि के काटने पर मत्रो का प्रयोग होता था।[५] अन्यान्य विषों को उतारने के लिए तथा अनेक शारीरिक पीडाओ के उपशमन के लिए मत्रों का प्रयोग होता था।[६]

संवाधन-पद्धति बहुत विकसित थी। अनेक व्यक्ति उसमें शिक्षा प्राप्त करते थे और गाँव-गाँव में घूमा करते थे। संबाधन चार प्रकार से किया जाता था[७]—(१) हड्डियो को आराम देने वाला—अस्थिसुख। (२) मास को आराम देने वाला—मास-सुख। (३) चमडी

१—दशवैकालिक, ७।५२

२—अगस्त्य चूर्णि :

मुत्तनिरोहे चक्खुं, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्ढं निरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

३—जिनदास चूर्णि, पृ० ३५४,३५५ :

अब्भवहरिऊण मुहेण उग्गिसियं वंतं तस्स पडिपीयणं ण तहा विहियं भवति, तं अतीव रसे न बलं, न उच्छाहकारी, विलीगतया य पडिएति, वग्गुलिं वा जणयति ततो कोढं वा जणयति।

४—वही, पृ० २५९।

५—दशवैकालिक, ८।५१ तथा हारिभद्रीय टीका, पत्र २३६।

६—जिनदास चूर्णि, पृ० ३४०।

७—वही, पृ० ११३।

को आराम देने वाला—त्वक् सुख। (४) रोओं को आराम देने वाला—रोम-सुख।

शिरोरोग से बचने के लिए धूम्र-पान किया जाता था। धूम्र-पान करने की नली को 'धूमनेत्र' कहा जाता था। शरीर, अन्न और वस्त्र को सुवासित करने के लिये धूम्र का प्रयोग करते थे। रोग की आशंका से बचने के लिए भी धूम्र का प्रयोग किया जाता था।[1]

बल और रूप को बढाने के लिए वमन, वस्तिकर्म और विरेचन का प्रयोग होता था। वस्ति का अर्थ है, दत्ति दत्ति से अधिष्ठान (मल-द्वार) में घी आदि दिया जाता था।[2]

उपासना :

पंचांग नमस्कार की विधि प्रचलित थी। जब कोई गुरु के समक्ष जाता तब वह दोनो जानु को भूमि पर टिका, दोनों जोडे हुए हाथों को भूमि पर रख उनपर अपना शिर टिकाता है। यह वन्दन-विधि सर्वत्र मान्य थी।[3]

यज्ञ :

आहिताग्नि ब्राह्मण अनेक प्रकार से मंत्रो का उच्चारण कर अग्नि में घृत की आहुति देते थे। वे निरन्तर उस घृत-सिक्त अग्नि को प्रज्वलित रखते और उसकी सतत सेवा करते थे।[4] अग्नि में वसा, रुधिर और मधु की भी आहुति दी जाती थी।[5]

दण्डविधि :

दास-दासी या नौकर-चाकर जब कोई अपराध कर लेते तब उन्हें विविध प्रकार से दण्डित किया जाता था। कुछ एक अपराधों पर इन्हें लाठी से पीटा जाता, कभी भाले आदि शस्त्रों से आहत किया जाता और कभी केवल कठोर शब्दों में उपालम्भ मात्र ही दिया जाता था। भोजन-पानी का विच्छेद करना भी दण्ड के अन्तर्गत आता था। कई अपराधों पर भोजन-पानी का विच्छेद करते हुए कहा जाता—"इसे एक बार ही भोजन

१–(क) दशवैकालिक, ३।९।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ११५ ; हारिभद्रीय टीका, पत्र ११८।

२–जिनदास चूर्णि, पृ० ११५।

३–वही, पृ० ३०६ :
पंचगीएण वंदणिएण तंजहा—जाणुदुगं भूमीए निवडिएण हत्थदुएण भूमीए अवट्ठंभिय ततो सिर पंचमं निवाएज्जा।

४–(क) दशवैकालिक, ९।१।११।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ३०६।

५–जिनदास चूर्णि, पृ० ३६३ :
...वसारुहिरमहुघयाइहिं हूयमाणो...।

देना और एक शराब मात्र ही पानी। इसे एक दिन, दो दिन या अमुक दिनों तक भोजन मत देना।"[1]

शिक्षा :

शिक्षाओ के अनेक केन्द्र थे। स्वर्णकार, लोहकार कुम्भकार आदि का कर्म, कारीगरी, कौशल, बाण-विद्या, लौकिक कला, चित्रकला आदि-आदि के स्थान-स्थान पर शिक्षा-केन्द्र होते थे। वहाँ विविध शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी अनेक स्त्री-पुरुष वहाँ शिक्षा आप्त करते थे। वहाँ के सचालक—गुरु उन विद्यार्थियों को शिल्प में निपुण बनाने के लिए अनेक प्रकार से उपालम्भ, ताडना-तर्जना देते थे। राजकुमार भी इसके अपवाद नहीं थे। सांकल से बाधना, चाबुक आदि से पीटना और कठोर-वाणी से भर्त्सना करना—ये विधियाँ अध्यापन-काल में अध्यापक-वर्ग द्वारा विहित मानी जाती थी।[2]

विद्यार्थी अपने गुरुजनो को भोजन-वस्त्र आदि से सम्मानित करते थे।[3]

सम्बोधन :

विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के 'सम्वोधन शब्द' प्रचलित थे

(१) हले—इस आमत्रण का प्रयोग वरदा तट में होता था[4] तथा महाराष्ट्र में तरुण स्त्री का सम्वोधन शब्द था।[5]

(२) अन्ने—इसका प्रयोग महाराष्ट्र में तरुण[6]-स्त्री तथा वेश्या के सम्बोधन में होता था।[7]

(३) हला—यह शब्द लाट देश में प्रचलित था और इससे तरुण-स्त्री को सम्बोधित किया जाता था।[8]

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३११,३१२।

२—(क) दशवैकालिक, ९।२।१३,१४।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ०३१३,३१४।

३—वही, पृ० ३१४।

४—वही, पृ० २४०

तत्थ वरदा तडे हलेत्ति आमंतणं।

५,६—अगस्त्य चूर्णि :

हले अन्नेत्ति मरहट्ठेसु तरुणत्थी आमंतणं।

७-जिनदास चूर्णि, पृ० २५० :

अण्णेत्ति मरहट्ठविसये आमंतणं, दोमूलक्खरगाण चाटुवयणं अण्णेत्ति।

८—अगस्त्य चूर्णि :

हलेत्ति लाडेसु।

(४) भट्टे—यह पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था[1] और लाट देश में इससे ननद का बोध होता था।[2]

(५) सामिणी—यह चाटुता का आमंत्रण शब्द था[3]। तथा लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन-शब्द था।[4]

(६) होल, गोल, वसुल—ये तीनो गोल देश में प्रचलित प्रिय-आमंत्रण थे।[5]

(७) गोमिणी—इससे चाटुता का बोध होता था और यह सभी देशों में प्रयुक्त होता था।[6]

(८) अण्ण—महाराष्ट्र में पुरुष के सम्बोधन के लिए प्रयुक्त होता था।[7]

(९) हे, भो—ये सामान्य आमंत्रण थे।[8]

(१०) भट्टि, सामि, गोमि—ये पूजा-वाची शब्द थे।[9]

(११) होल—यह प्रभुवाची शब्द था।[10]

मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा', कही उसे 'धर्म-प्रिया' और कही 'धर्मशीला' कहा जाता था।[11]

१–अगस्त्य चूर्णि :
भट्टेति अब्भरहित वयणं पायो लाडेसु।

२–जिनदास चूर्णि, पृ० २५० :
भट्टेति लाडाणं पतिभगिणी भण्णइ।

३,४–वही, पृ० २५०।

५–अगस्त्य चूर्णि :
होले गोले वासुलेत्ति देसिए लालणगत्थाणीयाणि प्रियवयणमंतणाणि।

६–जिनदास चूर्णि, पृ० २५० :
गोमिणिओ चाटुए वयणं।

७–वही, पृ० २५० :
अण्णेत्ति मरहट्ठविसए आमंतणं।

८–वही, पृ० २५०।

९–अगस्त्य चूर्णि :
भट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि निद्देसातिसु सव्व विमत्तिसु।

१०–वही :
होलइति पभुवयणं।

११–हारिभद्रीय टीका, पत्र २१३ :
तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना।

नाम दो प्रकार के होते थे—गोत्र-नाम और व्यक्तिगत-नाम। व्यक्ति को इन दोनो से सम्बोधित किया जाता था। अवस्था की दृष्टि से जिसके लिए जो उचित होता था, उसी प्रकार उसे सम्बोधित किया जाता था।[1]

राज्य-व्यवस्था :

राजाओ के अनेक भेद थे—मण्डलीक, महामण्डलीक आदि-आदि।[2] जो बद्ध-मुकुट होते, उन्हें राजा, मंत्री को राजामात्य और सेनापति आदि को 'दंडनायक' कहा जाता था।[3] राजा केवल क्षत्रीय ही नहीं होते थे। कई क्षत्रीय होते पर राजा नही, कई राजा होते पर क्षत्रीय नहीं।[4]

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बाधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है।[5] हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते है, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रेष्ठिन्' या 'प्रधान' कहलाता था।[6]

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'श्रेष्ठी' को वणिक्-ग्राम का महत्तर कहा है।[7] इसलिए यह पौराध्यक्ष नही, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है।[8] सम्भवत नैगम के समान ही पौर संस्था का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेणी तथा पूग के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड दिया

१–दशवैकालिक ७।१७,२०।

२–जिनदास चूर्णि, पृ० ३६० :

३–वही, पृ० २०८।

४–वही, पृ० २०९।

५–निशीथ भाष्य, गाथा २५०३, सभाष्यचूर्णि भाग २, पृष्ठ ४५० :
जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति तं वेंटणगं, तं जस्स रण्णा अणुन्नातं सो सेट्ठी भण्णति।

६–हिन्दू राजतंत्र, दूसरा खण्ड, पृ० १३२।

७–(क) अगस्त्य चूर्णि :
राजकुललद्धसम्माणो समाविद्धवेट्ठणो वणिग्गाममहत्तरो य सेट्ठी।
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ० ३६०।

८–धर्म-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातंत्रात्मक परम्पराएँ पृ० १०६।

जाता होगा, जैसे—राजगृह सेठी तथा एक श्रावस्ती श्रेष्ठी। निग्रोध जातक (४४५) में राजगृह सेट्ठी तथा एक अन्य साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है।

जनपद :

सारा देश अनेक भागो में विभक्त था। ग्राम, नगर आदि की विशेष रचनाएँ और परम्पराएँ होती थीं। इस सूत्र में तीन शब्द आए हैं—ग्राम, नगर और कर्वट (कव्वड)।

१. ग्राम—जिसके चारो ओर कांटो की बाड हो अथवा मिट्टी का परकोट हो। जहाँ केवल कर्मकर लोग रहते हो।

२ नगर—जो राजधानी हो और जिसमें कर न लगता हो।[1]

३ कर्वट—इसके अनेक अर्थ हैं—

(१) कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो।[2]

(२) वहुत छोटा सन्निवेश।[3]

(३) वह नगर जहाँ बाजार हो।

(४) जिले का प्रमुख नगर।[4]

चूर्णियो में कर्वट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है।[5]

शस्त्र :

शस्त्र अनेक प्रकार के होते थे[6]—(१) एक धार वाले—परशु आदि। (२) दो धार वाले—शलाका, वाण आदि। (३) तीन धार वाले—तलवार आदि। (४) चार धार वाले—चतुष्कर्ण आदि। (५) पाँच धार वाले—अजानुफल आदि।

१–(क) हारिभद्रीय टीका, पत्र १४७ :
नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्।
(ख) लोकप्रकाश, सर्ग ३१, श्लोक ९ :
नगरं राजधानी स्यात्।

२–जिनदास चूर्णि, पृ० ३६०।

३–हारिभद्रीय टीका पत्र २७५।

४–A Sanskrit English Dictionary, Page 259 By Sir Monier Williams.

५–जिनदास चूर्णि, पृ० ३६०।

६–वही, पृ० २२४ :
सासिज्जइ जेण तं सत्थं, किंचि एगधारं दुधारं तिधारं चउधारं पंचधारं ...तत्थ एगधारं परसु, दुधारं कणयो, तिधारं असि, चउधारं तिपडतो कणीयो, पंचधारं अजाणुफलं।

याचना और दान :

याचना के अनेक प्रकार प्रचलित थे—

कई याचक कहते—"हम भूमिदेव हैं, लोगो के हित के लिए हम भूमि पर अवतीर्ण हुए हैं। हमें 'द्विपद' आदि देने से पुण्य होता है।"

कई कार्पटिक आदि याचक आजीविका के लिए घर-घर घूमा करते थे।

वनीपक पाँच प्रकार के होते थे—(१) अतिथि-वनीपक—अतिथि-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (२) कृपण-वनीपक—कृपण भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशसा कर दान लेने वाले। (३) ब्राह्मण-वनीपक—ब्राह्मण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले। (४) श्व-वनीपक—जो व्यक्ति कुत्ते के भक्त होते थे, उनके सम्मुख श्व-दान की प्रशसा कर दान लेने वाले। वे कहते—"गाय आदि पशुओं को घास मिलना सुलभ है, किन्तु छि छि कर दुत्कारे जाने वाले कुत्तों को भोजन मिलना सुलभ नहीं। ये कैलाश पर रहने वाले यक्ष है। ये भूमि पर यक्ष के रूप में विहरण करते हैं।" (५) श्रमण-वनीपक—श्रमण-भक्त के सम्मुख श्रमण-दान की प्रशंसा कर दान लेने वाले।

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के काँटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते—उठो, उठो जो तुम चाहोगे, वही तुम्हें देंगे। इतना कहने पर वे उठ खड़े हो जाते।[1]

प्रत्येक घर में एक ऐसी सीमा होती थी, जहाँ वनीपक आ-जा सकते थे। इसके अतिक्रमण को बुरा समझा जाता था।[2]

स्थान-स्थान पर दान-शालाएँ होती थीं। उनके अनेक प्रकार थे। 'किमिच्छइ' एक प्रकार की दानशाला थी, जहाँ याचक से 'तुम क्या चाहते हो'—यह पूछकर दान दिया जाता था।[3]

विदेश-यात्रा से लौटकर श्रेष्ठि प्रसाद-भाव से सर्व पाखण्डियो (सब सम्प्रदाय

१—जिनदास चूर्णि, पृ० ३२० :

जहा कोयि लोहमयकंटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छहमाणा ण पराभियोगेण तेसिं लोहकंटगाणं उवरिं णुविज्जति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्यहेउं इमं आवइं पतत्ति भन्नंति जहा उट्ठेह उट्ठेहत्ति, जं मग्गह तं मे पयच्छामो, तओ तिक्खकंटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंति।

२—दशवैकालिक, ५।१।२४।

३—वही, ३।२।

के साधुओं) को दान देने के निमित्त भोजन बनाते थे। महाराष्ट्र के राजा दान-काल में सम्मानरूप से दान देते थे।[1]

भोज :

जीमनवार अनेक प्रकार के होते थे—(१) आकीर्ण जीमनवार—यह राजकुल के किसी व्यक्ति या नगर-सेठ द्वारा किया जाता था। इसमें भोजन के लिए आने वालों की संख्या अधिक होती थी। (२) अवमान जीमनवार—इसमें स्वपक्ष और पर-पक्ष के लोग ही भाग लेते थे और इसमें जीमने वालो की संख्या निश्चित होती थी।[2]

मृत्यु पर तथा पितर आदि देवो के प्रीति-सम्पादनार्थ संखडि (भोज) किए जाते थे। उन्हें 'कृत्य' कहा जाता था।[3] मज्झिमनिकाय (१।४४८) में इसे 'सखति' कहा है।

मनुष्य का स्थान :

उत्तम जाति वाले पुरुष नीच जाति वालो को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे उनके पैरो में नही पडते थे।[4]

जाति, कुल, कर्म, शिल्प और कुछ विशेष रोग आदि के आधार पर मनुष्य तिरस्कृत माने जाते थे।[5]

जाति से—म्लेच्छ जाति। कुल से—जारोत्पन्न। कर्म से—त्यक्त पुरुषों द्वारा सेवनीय। शिल्प से—चर्मकार। रोग से—कोढी।

१—(क) दशवैकालिक ५।१।४८।
(ख) अगस्त्य चूर्णि :
कोति इस्सरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्तं दाणं देति, रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति।

२—(क) दशवैकालिक चूलिका २।६.
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २८०।

३—हारिभद्रीय टीका, पत्र २१४।

४—जिनदास, चूर्णि, पृ० ३१६ :
जातीए इड्ढिगारवं वहति, जहा हं उत्तमजातीओ कहमेतस्स पादे लग्गिहामित्ति।

५—वही, पृ० ३२३ :
असूयाइ जाइतो कुलओ कम्मायो सिप्पयो वाहिओ वा भवति जाइओ जहा तुमं मेच्छजाइजाती, कुलओ जहा तुमं जारजाओ, कम्मओ जहा तुमं जढेहि भयणीज्जो, सिप्पयो जहा तुमं सो चम्मगारो, वाहिओ जहा तुमं सो कोढिओ।

कर्त्तव्य और परम्परा :

माता-पिता कन्या के वर के चुनाव में बहुत सतर्क रहते थे ।[1]

दक्षिणापथ में मामे की लडकी से विवाह किया जा सकता था, उत्तरापथ में नहीं । दक्षिण और उत्तर के खान-पान, रहन-सहन आदि भिन्न थे ।[2]

गाँवो में अकेली स्त्री भी इधर-उधर आ-जा सकती थी, परन्तु नगरो में वह दूसरी स्त्री को साथ ले जाती थी ।[3]

व्यापार-यात्रा :

लोग व्यापार के लिए दूर-दूर देशो में जाते थे । जब पुत्र देशान्तर के लिए प्रस्थान करता तब पिता शिक्षा के शब्दों में कहता—"पुत्र ! अकाल-चर्या और दुष्ट-संसर्ग से बचने का सदा सर्वत्र प्रयत्न करना ।" वे बार बार इस शिक्षा को दोहराते थे ।[4]

पुस्तक :

पुस्तकें पाँच प्रकार की होती थीं[5]—

(१) गंडी—वह मोटाई और चौडाई में सम होती थी ।

१—दशवैकालिक, ९।३।१३ ।

२—हारिभद्रीय टीका, पत्र २२ :

यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या उत्तरापथे पुनरगम्यैव, एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्त्तव्येति ।

३—वही, पत्र २२ :

पुरवरधर्मः—प्रतिपुरवरं भिन्न क्वचित्किञ्चिद्विशिष्टोऽपि पौरभाषाप्रदानादिलक्षण सद्वितीया योषिद्गेहान्तरं गच्छतीत्यादिलक्षणो वा ।

४—जिनदास चूर्णि, पृ० ३४० ।

५—हारिभद्रीय टीका, पृ० २५ :

गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए तहा छिवाडी अ ।
एयं पोत्थयपणयं पण्णत्तं वीअराएहिं ॥
बाहल्लपुहुत्तेहिं गंडी पोत्थो उ तुल्लगो दीहो ।
कच्छवि अंते तणुओ मज्झे पिहुलो मुणेअव्वो ॥
चउरंगुलदीहो वा वट्टागिति मुट्ठिपोत्थगो अहवा ।
चउरंगुलदीहो चिअ चउरस्सो होई विण्णेओ ॥
संपुडओ दुगमाई फलगा वोच्छं छिवाडिमेत्ताहे ।
तणुपत्तोसिअरूवो होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥
दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो ।
तं मुणिअ समयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥

(२) कच्छपी—वह अन्त में पतली और मध्य में विस्तीर्ण होती थी।
(३) मुष्टि—वह लम्बाई में चार अंगुल अथवा वृत्ताकार होती थी अथवा चार अंगुल लम्बी, चतुष्कोण वाली होती थी।
(४) संपुटक—यह दो फलकों में बंधी हुई होती थी और
(५) सृपाटिका—इसका विस्तार अधिक और मोटाई कम होती थी। यह लम्बी भी होती थी और छोटी भी। सम्भवत इसका आकार चोंच जैसा होता था।

धातु :

सोना केवल आभूषण बनाने के ही काम नहो आता था, वह अन्यान्य कार्यों में भी प्रयुक्त होता था। उसके आठ गुण प्रसिद्ध थे[1]—(१) विषघाती—विष का नाश करने वाला। (२) रसायन—यौवन बनाए रखने में समर्थ। (३) मंगलार्थ—मांगलिक कार्यों में प्रयुक्त द्रव्य। (४) प्रविनीत—यथेष्ट प्रकार के आभूषणों में परिवर्तित होने वाला। (५) प्रदक्षिणावर्त—तपने पर दीप्त होने वाला। (६) गुरु—सार वाला। (७) अदाह्य—अग्नि में न जलने वाला। (८) अकुथनीय—कभी खराब न होने वाला।

जो सोना कष, छेद, ताप और ताड़ना को सह लेता, वह विशुद्ध माना जाता था।[2] सोने पर चमक लाने के लिए गोपीचन्दन का प्रयोग किया जाता था। यह मिट्टी सौराष्ट्र में होती थी इसलिए उसे सौराष्ट्रिका कहा जाता था।[3] कई मनुष्य कृत्रिम स्वर्ण भी तैयार करते थे। वह विशुद्ध सोने जैसा होता था परन्तु कष, छेद आदि सहन नहीं कर सकता था।[4]

१–(क) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३५१ :
विसघाइ रसायण मंगलत्थ विणिए पयाहिणावत्ते।
गुरुए अडज्झ कुत्थे अट्ठ सुवण्णे गुणा भणिओ॥
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २६३।
२–दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३५२ :
चउकारणपरिसुद्धं कसछेअणतावतालणाए अ।
जं तं विसघाइरसायणाइगुणसंजुअं होइ॥
३–जिनदास चूर्णि, पृ० १७९ :
सोरट्ठिया उवरिया, जीए सुवण्णकारा उप्पं करेंति सुवण्णस्स पिंडं।
४–(क) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३५४।
(ख) हारिभद्रीय टीका, पत्र २६३।

पशु :

तीन वर्ष के बछडे को 'गोरहग' कहा जाता था[1] तथा रथ की भाँति दौडने वाला बैल, जो रथ में जुन गया वह बैल और पाण्डु-मथुरा आदि में होने वाले बछडों को गोरहग कहा जाता था।[2] इसका अर्थ कल्होड भी किया गया है।[3] कल्होड देशी शब्द है। इसका अर्थ है वत्सतर—बछडे से आगे की और संभोग में प्रवृत्त होने के पहले की अवस्था।[4]

हाथी, घोडे, बैल, भैंस आदि को जौ आदि का भोजन दिया जाता था और कहीं-कहीं ये अलंकृत भी किए जाते थे।[5] राजाओ के हाथी घोडों के लिए भोजन, अलकार, आवास आदि की विशेष व्यवस्था होती थी।[6]

पक्खली (?) देश में अच्छे घोड़े मिलते थे।

महामद्द (?) और दीलवालिया (?) इन दो जातियो के संयोग से खच्चर पैदा होते थे। घोटग अश्व की एक जाति थी। यह आर्जव जाति के घोडो से उत्पन्न मानी जाती थी।[7]

मछलियों को वडिश से पकडा जाता था। उसकी नोक पर तीक्ष्ण लोह की कील

१–सूत्रकृतांग, १।४।२।१३ :
'गोरहगं' त्रिहायणं बलिवर्दम्।

२–अगस्त्य चूर्णि :
गो जोग्गा रहा गोरह जोगत्तणेण गच्छन्ति गोरहगा पण्डु-मथुरादीसु किसोर सरिसा गोपोतलगा।

३–हारिभद्रीय टीका, पत्र २१७ :
गोरथकाः कल्होडा।

४–देशीनाममाला २।९, पृ० ५९
कल्होडो वच्छयरे—कल्होडो वत्सतर।

५–जिनदास चूर्णि, पृ० ३११।

६–हारिभद्रीय टीका, पत्र २४८।

७–जिनदास चूर्णि, पृ० २१२-२१३ :
आसो नाम जच्चस्सा जे पक्खलिविसयादिसु भवन्ति, अस्सतरो नाम जे विजातिजाया जहा महामद्दएण दीलवालियाए, जे पुण अज्जवजातिजाता ते घोडगा भवंति।

लगी हुई होती थी और उसपर मास का टुकडा रखा जाता था। जब मत्स्य मांस को खाने आता तब उसका गला तीक्ष्ण लोहे की नोक में फंस जाता।[1]

श्रमण :

कई प्रकार के साधु तत्र, मंत्र और चिकित्सा आदि के द्वारा दूसरो का हित सम्पादन कर अपनी आजीविका चलाते थे।[2]

व्यक्ति :

दशवैकालिक में निम्न व्यक्तियो के नाम मिलते हैं। (१) उग्रसेन—भोजकुल का एक राजा। (२) समुद्रगुप्त—अन्धकवृष्णि कुल का एक राजा। (३) रथनेमि। (४) राजीमती। (५) भद्रिकाचार्य (प्रा० भद्दियायरियु)।[3] (६) दत्तिलाचार्य (प्रा० दत्तिलायरिया)। (७) गोविन्द वाचक—ये बौद्ध थे। ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। आगे चलकर वे महावादी हुए।[4]

सिक्का :

पूणी (रुई की पहल) कौडी आदि भी सिक्के के रूप में प्रचलित थे।

*

१–जिनदास चूर्णि पृ० ३४१।

२–दशवैकालिक, ८।५०।

३–संभव है इन दोनो आचार्यों की दशवैकालिक पर कोई व्याख्यान हो। देखो—जिनदास चूर्णि, पृ० ४।

४–प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०४।

परिशिष्ट-१

चूर्णि की परिभाषाएँ

(इस संकलन मे मुख्यतः अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि और यत्र-तत्र जिनदास महत्तर की चूर्णि का उपयोग किया गया है)।

अध्ययन-१

श्लोक	शब्द	अर्थ
३	एमेते	एवं सद्दो तहा सद्दस्स अत्थे······ वकारलोपो सिलोग पायाणुलोमेणं।
,,	समणा	अणियत-वित्तित्तणेण समणो तवस्सिणो श्रमु तपसीति।
,,	विहगमा	विहमागासं विहायसा गच्छतित्ति विहगमा।
५	अणिस्सिया	अणभिसंधितदायारो।

अध्ययन-२

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	कामे	इट्ठा सद्दरसरूवगंधफासा कता विसतिणा मिति कामा।
२	वत्थ	खोमदुगुल्लादीणि।
,,	गध	कुकुमागरुचन्दणादत्तो।
,,	अलकार	केसवत्थाभरणादि।
,,	अच्छदा	अकामगा।
३	भोए	इदिय विसया।
,,	साहीणे	अप्पाहीणे।
४	सिया	सिया सद्दो आसकावादी, जदि अत्थे वट्टति।
६	जलियं	न मुम्मुरं भूतं।

श्लोक	शब्द	अर्थ
६	दुरासयं	डाहकत्तणेण दुक्खं समस्सतिज्जतितं दुरासदं।
,,	अगंधणे	उत्तमसप्पा—ते डंकातो विसं न पिबंति मरंता वि। किंच सुलसागब्भप्पसवा कुलमाणसमुण्णता भुयंगमा णाहारोसवस विप्पमुक्कं ण पिबेंति विसं विसाय वज्जितसीला।
८	भोयरायस्स	भोमो इति हरिवंसो चेव गोत्त विसेसं। तेसिं भोयाण राया-भोयराया।
९	जइ	जदि सद्दो अणब्भुवगमे।
,,	भावं	भावो-अभिसंगो।
,,	हडो	जलरुहो वणस्सति विसेसो, अणाबद्धमूलो हडो।

अध्ययन-३

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	विप्पमुक्काण	अब्भितर बाहिरगंथबंधण विविहप्पगार मुक्काणं विप्पमुक्काणं।
,,	अणाइण्णं	अकप्पं।
,,	महेसिणं	महेसिणं ति इसी—रिसी, महरिसी—परमरिसिणो संवज्झति, अहवा महानिति मोक्खो तं एसंत्ति महेसिणो।
२	नियागं	प्रतिणियतं ज निवंधकरणं, ण तु जं अहासमावत्तीए दिणे-दिणे भिक्खा गहणं।
,,	अभिहडाणि	अभिहडं जं अभिमुहाणीतं, उवस्सए आणेऊणदिण्णं।
,,	गंध	गधा कोट्ठे पुडादतो।
,,	मल्ले	मल्ल गंथिम-पूरिम-संघातिमं।
३	सन्निही	सण्णिहाणं।
,,	गिहिमत्ते	गिहिमायणं कंसपत्तादि।

श्लोक	शब्द	अर्थ
३	रायपिंडे किमिच्छए	मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिंडो। रायपिंडे किमिच्छए—राया जो जं इच्छति तस्स तं देति—एस रायपिण्डकिमिच्छतो।
,,	सबाहणा	संबाधणा अट्ठि-सुहा, मस-सुहा, तय-सुहा, रोम-सुहा।
,,	दंतपहोयणा	दतपहोवण दताण दंत कट्ठोदकादीहिं पक्खालणं।
,,	संपुच्छणा	संपुच्छणं—(१)-जे अंगा अवयवा सयं न पेच्छति अच्छि-सिर-पिट्ठमादि ते परं पुच्छति—सोभत्ति वा ण व त्ति' (२)-अहवा गिहीण सावज्जारंभाकता पुच्छति·······।
,,	देहपलोयणा	अंगमंगाइं पलोएति 'सोभंति ण वेति'।
४	अट्ठावए	अट्ठावय जूयप्पगारो। रायारुह णयजुतं गिहत्थाणं मा अट्ठावयं देति। केरिसो कालोत्ति पुच्छित्तो भणति ण याणामि, आगमेस्स पुण सुणकावि सालिकूरं ण भूजति।
,,	णालिए	जूयविसेसो, जत्थ मा इच्छितं पाडेहितित्ति णालियाए पासका दिज्जति·· ···।
,,	तेगिच्छ	रोगपडिक्कम्मं।
५	सेज्जायरपिंड	सेज्जा वसती, स पुण सेज्जा दाणेण ससारं तरति सेज्जातरो तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
,,	आसदी	उपविसण।
,,	पलियकए	सयणिज्ज।
,,	गिहतरणिसेज्जा	गिहंतरं पडिस्सयातो बाहिं जं गिहं। गेण्हतीति-गिहं। गिह अंतरं च गिहंतरं, गिहंतर निसेज्जा जं उवविट्ठो अच्छति।

श्लोक	शब्द	अर्थ
५	गायस्सुव्वट्टणाणि	गातं सरीर तस्स उव्वट्टणं—अब्भंगणुव्वलणाईणि णाईहिं।
६	गिहिणो वेयावडियं	गिहीणं वेयावडितं जं तेसिं उवकारे वट्टति।
,,	आजीववित्तिया	सा पंचविहा जाति कुलगणकम्मेसिप्पे आजीवणाओ।
,,	तत्तानिव्वुडभोइत्तं	णातीव अगणि परिणतं तं तत्त-अपरिनिव्वुडं अहवा तत्तं पाणी तं पुणो सीतली भूतं आउक्काय परिणाम जाति तं अपरिणयं अणिव्वुडं गिम्हे अहोरत्तेणं सच्चित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु पुव्वण्हे कतं अवरण्हे। अहवा तत्त भवि तिन्निवारे अणुव्वत अणिव्वुडं तं जो अपरिणतं भुंजति सो तत्त-अनिव्वुडभोजी।
,,	आउरेस्सरणाणि	(१) छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेणं सीतोदकादि पुव्वभुत्तसरणं। (२) सत्तूहिं वा अभिभूतस्स सरणं भवति......। (३) अहवा सरणं आरोग्यमाला तत्थ पवेसो गिलाणस्स......।
७	मूलए	सारूजाति।
,,	सिंगवेरे	अल्लगं।
,,	कंदे	कंदा चमकादतो।
	मूले	भिसादतो।
,,	फले	अंबादतो।
,,	बीए	बीओ धण्ण विसेसो।
८	सोवच्चले	उत्तरावहे पव्वतस्स लवणखाणीसु संभवति।
,,	सेंधवे	सेंधवलोणपव्वते सभवति।
,,	रोमा	रूमाए भवति।
,,	लोणे	सांभरीलोणं।

श्लोक	शब्द	अर्थ
८	सामुद्दे	समुद्दपाणीय रिणेकेदारादिकतमावट्ठतं लवणं भवति।
,,	पंसुखारे	पसुखारो ऊसो कड्ढिज्जंतो अद्दुप्पं भवति।
,,	कालालोणे	तस्सेव सेंधवपव्वतस्स अंतरंतरेसु (कालालोण) खाणीसु सभवति।
९	धूवणेत्ति	धूमं पिवति 'मा सिररोगातिणो भविस्सति' आरोग पडिवकम्मं, अहवा 'धूमणेत्ति' धूमपाणसलागा, धूवेति वा अप्पाणं वत्थाणि वा······।
,,	वत्थिकम्म	वत्थीणिरोहादि दाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति तेण कम्मं अपाणाणं सिणेहादि दाणं वत्थीकम्म···।
,,	विरेयणे	कसायादीहिं सोघणं।
,,	अंजणे	नयण-विभूसा।
,,	दतवणे	दसणाण विभूसा।
,,	गायब्भंग	सरीरब्भंगणमद्दणाईणि।
,,	विभूसणे	अलकरण।
१०	लहुभूयविहारिणं	लहु ज ण गुरु स पुण वायुः, लहुभूतो—लहुसरिसो विहारो जेंसि ते लहुभूत-विहारिणो तहा अपडिवद्ध गामिणो।
११	पचासवपरिण्णाया	पच आसवा पाणातिवातादीणि पच आसव-दाराणि··· परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्च-क्खाणपरिण्णा य। जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाण-परिण्णाए ठिता ते पंचासवपरिण्णाया।
,,	उज्जुदंसिणो	उज्जु—संजमो समया वा, उज्जू—रागदोसपक्ख-विरहिता अविग्गहती वा, उज्जू—मोक्खमग्गो तं पस्स-तीति उज्जुदंसिणो, एवं चत्ते भगवतो गच्छ-विरहिता उज्जुदसिणो।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१२	सुसमाहिया	नाणदंसण चरित्तेषु सुट्ठु आहितासुसमाहिता।
१३	धुयमोहा	धुयमोहा विक्किण्णमोहा मोहो मोहणीयमण्णाणं वा......।
१५	सिद्धिमग्गं	सिद्धिमग्गं—दरिसण-नाण-चरित्तमत्तं।
"	परिणिव्वुडा	परिणिव्वुता-समता णिव्वुता सव्वप्पकारोघाति-भवधारणकम्म परिक्खते।

अध्ययन-४

सूत्र	शब्द	अर्थ
१	आउसं	सीसस्स आह्वानो, आयुष्मद् ग्रहणेन जातिकुलाद-तोषि गुणाऽधिकृता भवति—आयुप्पहाणा गुणा अतो आयुष्मन्।
"	भगवया	भगो जस्स अत्थि सो भगवान्। "अत्थजस्सलच्छि-धम्मप्पयत्तविभवाण छण्ह एतेसिं भग इति णाम—ते जस्स सति सो भण्णति भगवं... ..।
"	कासवेणं	कासं—उच्छू। तस्स विकारो कास्यः रसः। सो जस्स पाणं सो कासवो—उसभसामी। तस्स जे गोत्तजाता ते कासवा। तेण वद्धमाणसामी कासवो.. ...तेण कासवेण।
	पवेइया	साधुवेदिता, साधुविण्णाता।
	सुपण्णत्ता	जहावुद्धि सीसाणं प्रज्ञापिता।
	सेयं	अतिसयेण पससणीयं।
	अज्झयणं	अधीयते तद् इति अज्झयणं।
	धम्मपण्णत्ती	धम्मोपण्णविज्जाए जाए सो धम्मपण्णत्ती, अज्झयण विसेसो।

सूत्र	शब्द	अर्थ
३	पुढविकाइया	पुढवी-भूमी कातो जेसिं ते पुढविकाया—एत्थ काय सद्दो सरीराभिधाणो अहवा पुढवी एव कातो पुढवी-कातो—एत्थकायसद्दो समूहवाची।
४	चित्तमंतं	चित्त—चेतणा बुद्धी। तं जीवतत्वमेव। सा चित्त-वती सजीवा इति।
,,	अण्णत्थ	अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति।
८	सम्मुच्छिम	पउमिणिमादि उदगपुढवि सिणेह सम्मुच्छणा समुच्छिमा।
,,	सबीया	सबीया इति बीयावसाणा दसवणस्सति भेदा संग-हतो दरिसिता।
६	पाणा	जीवा, प्राणंति वा निश्वसंति वा।
,,	अंडजा	अंडजाता अंडजा मयूरादयः।
,,	पोतजा	पोतमिव सूयते पोतजा वल्गुलीमादयः।
,,	जराउजा	जराओ वेढिता जायंति जराउजा गवादयः।
,,	रसजा	रसासे भवति रसजा तक्कादौ सुहुम सरीर।
,,	उब्भिया	भूमिं भिंदिऊण निद्धावंति सलभादयो।
,,	परमाहम्मिया	परमं—पहाणं तं च सुहं। अपरमं—ऊणं तं पुण दुक्ख। धम्मो—सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। यदुक्तं—सुखस्वभावा।
१०	दडे	दंडो सरीरादि णिग्गहो।
११	भते	हे कल्लाण सुखभागिन् भगवन् एव भते।
,,	वेरमणं	नियत्तणं।
१३	अदिण्णादाणं	अणपुण्णातस्स गहणा दिण्णादाणं।
१८	भित्ती	णदी पव्वतादि तडो ततो वा जं अवद्दलितं।
,,	सिलं	सवित्थारो पाहण विसेसो।
,,	लेलुं	मट्टिया-पिंडो।

सूत्र	शब्द	अर्थ
१८	ससरक्खं	सरक्खो—पंसू। तेण अरण्णं पसुंणा सहगत—ससरक्खं।
,,	किलिचेण	अघ्घडितगं कट्ठं।
,,	अंगुलियाए	हत्थेगदेसो।
,,	सलागाए	कट्ठमेवघ्घडितगं।
१६	उदगं	णदी तलागादि संसितपाणीय मुदगं।
,,	ओसं	सरयादौ णिसि मेघ्घसंभवो सिणेह विसेसो तोस्सा।
,,	हिम	अतिसीतावत्थंभितं मुदगमेव हिमं।
,,	महियं	पातो सिसिरे दिसामंधकारकारिणी महिया।
,,	करग	वरिसोदगं कढणीभूतं करगो।
,,	हरतणुगं	किंचि सिणिद्ध भूमिं भेत्तूण कहिंचि समस्सयति संफुसितो सिणेह-विसेसो हरतणुतो।
,,	सुद्धोदगं	अंतरिक्खपाणि तं।
२०	इंगालं	खदिरादीण णिद्दड्ढाणं धूम विरहितो इंगालो।
,,	मुम्मुरं	करिसगादीणं किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
,,	अच्चिं	दीवसिहा, सिहरादि अच्ची।
,,	उज्जालेज्जा	वीयणगादीहिं जालाकरण उज्जालणं।
२१	तालियंटेण	मुक्खेवजाती।
,,	पत्तेण	पउमिणिपण्णमादिपत्त।
,,	पिहुणेण	पेहुण मोरंगं तेसिं कलावो।
२२	रूढेसु	उब्भिज्जत।
,,	जाएसु	आबद्धमूलं।
२३	पीढगंसि	उंडुयं जत्थ चिट्ठति तं ठाण पीढगं ढाणमत वा।
,,	फलगंसि	जत्थ सुप्पति चपगपट्टादि पेढणं वा।
,,	सेज्जसि	सव्वंगिका।
,,	संथारगंसि	अड्ढाइज्ज हत्था ततो सचतुरगुलं हत्थं विच्छिण्णो।

शब्द	अर्थ
पाणभूयाइं	पाणा तसा, भूता थावरा अहवा फुडउस्सासनिसासा पाणा, सेसा भूता।
अन्नाणी	जीवाजीव विन्नाण विरहितो अण्णाणी।
किं	किं सद्दो खेद वाची।
कल्लाण	कल्ल आरोग्ग, कल्लाणं संसारातो विमोक्खणं।
जीवे	जीवतीति जीवा, आउप्पाणा धरेंति।
गइं	नरकादि अहवा गतिः-प्राप्तिः।
पुण्णं	जीवाणं आउबलविभवसुखाति सूतितं पुण्णं।
मुंडे	इंदिय-विसय—केसावणयणेण मुंडे।
संवर	पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं।
अणुत्तर	कुतित्थिस धम्मेहिं पहाणो।
सव्वत्तगं नाणं	सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्तगं—केवलनाणं केवल-दर्शणं च······।
सेलेसिं	सीलस्स ईसति वसयति सेलेसी।
सुहसायगस्स	सुख स्वादयति चक्खति तस्स।
सायाउलगस्स	सुहेण आउलस्स, आउलो अणेकग्गो सुहं कयाति—अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्झाणो।
निकामसाइस्स	सुयच्छिण्णे मउए सुइतुं सीलमस्स निकामसायी।
उच्छोलणापहोइस्स	प्रभूतेण अजयणाए धोवेति।

अध्ययन-५ (उद्देसक-१)

शब्द	अर्थ
खाणुं	णाति उच्चो उद्धट्ठिओ दारु विसेसो।
विज्जलं	विगय मात्र जतो जल तं विज्जल (चिक्खले)। उदगचिक्खिल्लयं। [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
४	संकमेण	कत्तिम संकमो।
८	तिरिच्छसंपाइमेसु	पतंगादतो तसा।
९	वेस	पविसंति तं विसयत्थिणोत्ति वेसा, पक्खिति वा जणमणेसु वेसो स पुण णीयइत्थी समवातो।
,,	बंभचेरवसाणुए	बंभचेरं मेहुणवज्जणं व्रतं तस्स वसमणुगच्छति जं बंभचेरवसाणुगो साधु।
,,	विसोत्तिया	विस्रोतसा प्रवृत्तिः।
१०	अणायणे	आयतणं ठाणं आलयो, ण आयतण—अणायतणं अस्थानं।
,,	संसग्गीए	संपक्को।
१२	संडिब्भं	डिब्भाणि चेडरुवाणि। णाणाविहेहिं खेलणएहिं खेलताणं तेसिं समागमो संडिब्भ।
१५	आलोयं	गवक्खगो।
		चोपलपादी। [जि०]
,,	थिग्गलं	जं घरस्स दारं पुव्वामसी तं पडिपूरियं। [जि०]
,,	दारं	निगमपवेसमुंह।
,,	संधि	यमलघराणमतरं।
		खत्त पडिढक्कियय। [जि०]
,,	दगभवणाणि	पाणियकं मत्तं पाणियमंचिका ण्हाणमंडवादि।
१६	रहस्सारक्खिय	रायंतेपुरवरामात्यादयो।
१७	पडिकुट्ठ	निंदितं, तं दुविह इत्तरिय आवगहियं इत्तरियं—मयग सूतगादि आवगयिंह चंडालादि।
,,	मामगं	मा मम घर पविसंतु त्ति मामगं। सो पुण पतयाए इस्सालुयत्ताए वा।
,,	अचियत्त	अणिट्ठो पवेसो जस्स सो, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ त दाणपरिहीणं केवलं परिस्समकारी।

शब्द	अर्थ
चियत्तं	इट्ठं निग्गमणपवेसं, चागसंपण्णं वा ।
साणी	वक्कपडो
पावार	कप्पासितो पडो सरोमो पावरितो ।
णीयदुवार	णीय दुवारं जस्स सो णीयदुवारा त पुण फलिहयं वा कोट्ठतो वा जओ भिक्खा नीणिज्जति ।
एलग	बक्करओ ।
वच्छगं	गोमहिसतणओ ।
अइभूमि	भिक्खायरभूमि अतिक्कमणं ।
ससिणिद्धं	ज उदगेण किंचि णिद्ध ण पुण गलति ।
ससरक्खे	पंसुरउगुंडितं ।
लोणे	सामुद्दादि ।
गेरुय	सुवण्णगेरुतादि ।
वण्णिय	पीतमट्टिया ।
सेडिय	महासेडाति ।
सोरट्ठिय	तुवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया ।
पिट्ठ	आमपिट्ठं आमओ लोट्टो । सो अप्पिंघणो पोरुसिए परिणमति, बहुइंघणो आरतो परिणमइ ।
उक्कट्ठं	छरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठं वा, अंबिलिया पीलुपण्णियातीणि वा ।
	दोद्धिय कालिंगादीणि उक्खले छुब्भंति । [जि०]
कालमामिणी	पसूतिकालमासे ।
	नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स (जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्ध परिहरंति) । [जि०]
दगवारएण	दगवारओपाणियघडुल्लओ ।
णीसाए	पीसणी ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
४	संकमेण	कत्तिम संकमो।
८	तिरिच्छसंपाइमेसु	पतंगादतो तसा।
९	वेस	पविसंति तं विसयत्थिणोत्ति वेसा, पक्खिति वा जणमणेसु वेसो स पुण णीयइत्थी समवातो।
,,	बंभचेरवसाणुए	बंभचेरं मेहुणवज्जण व्रतं तस्स वसमणुगच्छति जं बंभचेरवसाणुगो साधु।
,,	विसोत्तिया	विस्रोतसा प्रवृत्तिः।
१०	अणायणे	आयतणं ठाणं आलयो, ण आयतणं—अणायतणं अस्थानं।
,,	ससग्गीए	संपक्को।
१२	संडिब्भं	डिब्भाणि चेडरुवाणि। णाणाविहेहिं खेलणएहिं खेलताणं तेसिं समागमो संडिब्भ।
१५	आलोयं	गवक्खगो।
		चोपलपादी। [जि०]
,,	थिग्गलं	जं घरस्स दारं पुव्वामसी तं पडिपूरियं। [जि०]
,,	दारं	निगमपवेसमुंह।
,,	संधि	यमलघराणमंतरं।
		खत्त पडिढक्कियय। [जि०]
,,	दगभवणाणि	पाणियकं मंत्त पाणियमंचिका ण्हाणमंडवादि।
१६	रहस्सारक्खिय	रायंतेपुरवरामात्यादयो।
१७	पडिकुट्ठ	निंदितं, तं दुविह इत्तरियं आवगहियं इत्तरियं—मयग सूतगादि आवगयिंह चंडालादि।
,,	मामगं	मा मम घरं पविसंतु त्ति मामगं। सो पुण पतयाए इस्सालुयत्ताए वा।
,,	अचियत्त	अणिट्ठो पवेसो जस्स सो, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ त दाणपरिहीणं केवलं परिस्समकारी।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१७	चियत्तं	इट्ठ निग्गमणपवेसं, चागसंपण्णं वा।
१८	साणी	वक्कपडी
,,	पावार	कप्पासितो पडो सरोमो पावरितो।
२०	णीयदुवारं	णीयं दुवार जस्स सो णीयदुवारा तं पुण फलिहयं वा कोट्ठतो वा जओ भिक्खा नीणिज्जति।
२२	एलगं	बक्करओ।
,,	वच्छगं	गोमहिसतणओ।
२४	अइभूमि	भिक्खायरभूमि अतिकमणं।
३३	ससिणिद्धं	जं उदगेण किंचि णिद्धं ण पुण गलति।
,,	ससरक्खे	पंसुरउगुंडितं।
,,	लोणे	सामुद्दादि।
३४	गेरुय	सुवण्णगेरुतादि।
,,	वण्णिय	पीतमट्टिया।
,,	सेढिय	महासेडाति।
,,	सोरट्ठिय	तुवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया।
,,	पिट्ठ	आमपिट्ठ आमओ लोट्टो। सो अप्पिधणो पोरुसिए परिणमति, बहुइधणो आरतो परिणमइ।
,,	उक्कट्ठं	छरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठं वा, अंबिलिया पीलुपण्णियातीणि वा।
		दोद्धिय कालिंगादीणि उक्खले छुब्भंति। [जि०]
४०	कालमामिणी	पसूतिकालमासे।
		नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स (जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्ध परिहरति)। [जि०]
४५	दगवारएण	दगवारओपाणियघडुल्लओ।
,,	णीसाए	पीसणी।

श्लोक	शब्द	अर्थ
४५	पीढएण	कट्ठातिमयं।
,,	लोटेण	णीसायुत्त।
,,	लेवेण	मट्टियादि।
,,	सिलेसेण	जउखउरादि।
४७	दाणट्ठा	कोति ईसरो पवासागतो साधु सद्धेण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणिमित्तं दाणं देति……रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति।
४९	पुण्णट्ठा	पव्विणीसु पुण्णमुद्दिस्सकीरतितं पुण्णट्ठप्पगडं।
५९	उत्तिग	कीड्डियाणगरं।
,,	पणगेसु	उल्ली।
६६	गभीरं	अप्पगासं तमः।
,,	भुसिरं	अतोसुण्णयं तं जंतुआलओ भवति। [जि०]
६७	निस्सेणि	मालादीण आरोहण-कट्ठं।
,,	फलगं	वहुलं कट्ठमेव।
		महल्लं सुवण्णयं भवइ। [जि०]
,,	पीढं	ण्हाणादि उपयोग्य।
,,	मंचं	सयणीयं, चडणमंचिगा वा।
,,	कीलं	भूमिसमाकोट्टितं कट्ठ।
		कीलो उड्ढं व खाणु। [जि०]
,,	पासायं	स-मालको घर विसेसो।
		निज्जूह गवक्खोवसोमितो। [नि० चू० १३।११]
७०	कंदं	चमकादि।
,,	मूलं	पिसादि।
,,	पलवं	फल।
,,	सन्निरं	साग।
,,	तुंवागं	जं त्वयाए मिलाणं अमिलाणं अंतो त्वम्लानम्।

शब्द	अर्थ
सिंगबेरं	अल्लगं।
सत्तु	जवातिक्खणा जवातिघाणाविकारो।
चुण्णाइं	पिट्ठविसेसा।
कोल चुण्णाइ	कोलो-बदरो, तेसिं चुण्णाणि, कयचि कयत्थाणं।
सक्कुलि	तिलपप्पडिया।
फाणियं	छुट्ट गुलो।
पूयं	तवगसिद्धो।
वार-धोयण	वालो वारगो रलयोरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति। वालः तेण वार एव वाल तस्स धोवणं फाणितातीहिं लित्तस्स वालादिस्स ज मि किंचि सागादि ससेदेत्ता सुत्तो सित्तादि कीरति।
चाउलोदगं	चाउलधोयणं।
कोट्ठगं	सुण्णघण्ण कोट्ठगादि कोट्ठओ।
	वट्ठमढो सुन्नओ। [जि०]
भित्तिमूलं	दोण्ह घराण मन्तरं।
सूइयं	सव्वजणं।
असूइयं	णिव्वंजणं।
उल्लं	सुसूवियं।
सुक्कं	मंदसूवियं।
मंथुं	बदरामहित चुण्णं।
कुम्मास	पुलगादि कुम्मासा।

अध्ययन-५ (उद्देसक-२)

शब्द	अर्थ
पडिग्गहं	भत्तपडिग्गह भायणं।
सेज्जा	उवस्सओ।
	उवस्सतादि मट्ठकोट्ठतादि। [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
२	निसीहियाए	सज्झायट्ठाणं, जम्मि वा रुक्खमूलादौ से[illegible] निसीहिया।
,,	अयावयट्ठा	यावदट्ठ—यावदभिप्रायं, न यावदट्ठं-अयावदट्ठं।
७	उच्चावया	णाणाविधजातिरूववयसंठाणादिभिः।
९	अग्गलं	दुवारे तिरिच्छं खीलिका कोडियं कट्ठं, गिहादि[illegible] कवाडनिरोधकट्ठ अग्गला।
,,	फलिहं	णगरदारकवाडोवत्थंभणं।
१०	माहणं	माहणा घीयारा।
,,	किविणं	किवणा पिंडोलगा।
१४	उप्पलं	णीलं।
,,	पउमं	णलिणं।
,,	कुमुअं	गद्दभगं।
,,	मगदंतियं	मेत्तिगा।
		अण्णे भणति वियइल्लो। [जि०]
१८	सालुय	उप्पलकंदो।
,,	मुणालियं	पउमाण मूला।
		गयदंतसन्निभा पउमिणि-कंदाओ निग्गच्छति। [जि०]
,,	सासवणालियं	सिद्धत्थगणाला।
१९	तणग	अग्गगमूल।
२०	छिवाडि	संविल्यिा।
		संगा। [जि०]
,,	आमियं	असिध्दपक्का तं वा सति भज्जिता।
२१	कोलं	पतर।
,,	वेलुयं	वेलयं—विल्ल वसकरिल्लं।
,,	कासवनालियं	सीवण्णीफलं, कस्सारुकं।

शब्द	अर्थ
तिलपप्पडगं	आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
नीमं	णीवफलं।
चाउलं पिट्ठं	चाउलं पिट्ठं लोट्ठो तं अभिनवमणिघणं सचित्तं भवति।
वियड	उण्होदगं।
	सुद्धमुदयं। [जि०]
तत्त-निव्वुडं	सीतलं पडिसच्चित्तीभूतं अणुवत्तदडं वा।
तिलपिट्ट	तिलउट्टो।
	तिलवट्ठो—जो अद्धाईहिं तिलेहिं जो कओ तत्थ अभिण्णता तिला होज्जा
	दरभिन्ना वा। [जि०]
पूइ पिन्नागं	सरिसवपिट्ठ।
	सिद्धत्थपिंडग। [जि०]
कविट्ठ	कवित्थफलं।
माउलिंगं	बीजपूरगं।
मूलगं	समूलं पलासो।
मूलगत्तियं	मूलगकंदगं च कत्तिया।
	मूलकदा। [जि०]
फलमंथूणि	बदरादि चुण्ण।
बीय-मथूणि	बहुबीजाणि।
	जवमासमुग्गादीणि। [जि०]
विहेलगं	उबरादीणि, भूतरुक्खफलं—तस्समाणजातीतं हरिडगाति वा।
पियाल	पियालरुक्खफलं।
समुयाणं	समुयाणीयति—समाहरिज्जंति तदत्थं चाउलसागतो रसादीणि तदुपसाधणाणि अण्णमेव समुदाणं अहवा पुव्वभणितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धमण्ण।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२५	कुलं	घरं।
,,	उच्चावयं	अणेगविहं—हीणमज्झिमाहिगमपडिकुट्ठेत्ति।
,,	ऊसढं	उस्सितं।
,,	नीयं	दुगुंछियकुलाणि। [जि०]
२६	वित्ति	सरीरधारणं।
,,	मायन्ने	मात्रा-परिमाणं तं जाणातीति मातण्णो।
२८	सयण	सथारगादि।
,,	आसण	पीढकादि।
,,	भत्त	ओयणादि।
,,	पाणं	मुद्दियावाणगादि।
३२	अत्तट्ठ-गुरुओ	अप्पणीयो अट्ठो अत्तट्ठो। सो जस्स गुरुओ, सो अत्तट्ठगुरुओ।
३३	विरसं	णिल्लोणाति।
३४	आययट्ठी	आगामीणी काले हितं आयतीहितं। आयतिहितेण अत्थी आयत्थी अभिलासी। आयतो—मोक्खो। आययं अत्थयतीति आययट्ठी। [जि०]
,,	मुणी	जती, भट्टारओ।
,,	सुतोसओ	किंचि लभिऊणं अलभिऊणं वा तुस्सति।
३५	माण	अब्भुट्ठाणादीहिं गव्वकरणं।
,,	सम्माण	वत्थातीहिं एगदेसेण वा माणो सव्वगतो परिसंगो सम्माणो।
,,	मायासल्लं	सल्लमाउध देहलग्गं…मायैव तस्स सल्लं भवति।
३६	सुरं	पिट्ठकम्म समाहारो।
,,	मेरगं	पसण्णा विसेसो। पसन्नो सुरापायोग्गेहिं दव्वेहिं कीरइ। [जि०]

शब्द	अर्थ
ससक्खं न पिवे	सक्खी भूतेण अप्पणा—सचेतण इति । अहवा जया गिलाणकज्जे तता 'ससक्खो' ण पिवे जणसक्खिगमित्यर्थः ।
सोंडिया	सुरादिसु सगो । जा सुरातिसु गेही सा सुडिया भण्णति ।
माया	णिगूढ पायवं, सढता ।
मोस	पुच्छियस्स अवलावो, अलीयं ।
संवरं	पच्चक्खाण ।
गुणाणं	सीलव्वयादयो ।
देवकिब्बिसं	देव सद्देण कस्सांव तत्थ विस्सवुद्धि भवेज्जा अतो किब्बिसिया देव दुगुच्छणत्थमिद भण्णति ।
एलमूययं	एलओ इव वोव्वडभासी ।
तिव्वलज्ज	तिव्वयत्यर्थः, लज्जा-सयम एव जस्स स भवति तिव्वलज्जो ।

अध्ययन-६

शब्द	अर्थ
गणि	गणो समुदायो संघो जस्स अत्थीति गणी ।
रायाणो	बद्धमुकुटा ।
रायमच्चा	अमच्च, सेणावतिपभितयो ।
माहणा	बभणा । घीयारा तेसिं उप्पत्ती जहा सामाइयनिज्जुत्तीए । [जि०]
दुरहिट्ठियं	दुगुछियाधिट्ठित, दुक्ख वा पव्वजाट्ठितेण अधिट्ठिज्जति ।
भेयाययण	भेदो-विणासो, आययणं-मूलं ।
विडं	पागजात ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
१७	उब्भेइमं	सामुद्दाति।
,,	लोणं	आगरेसु समुप्पज्जति।
,,	तेलं	तिलाति विकारा।
,,	फाणियं	उच्छूविकारो।
,,	सन्निहिं	सण्णिधानं।
२२	अणुफासो	अणुसरण मणुगमो अणुफासो।
,,	लज्जासमा वित्ती	संजमाणुविरोहेण वित्ति।
,,	एगभत्तं	एगवारं भोयण, एगस्स वा रागद्दोसरहियस्स भोयणं
२४	उदउल्लं	बिंदुसहित।
३२	जायतेयं	जात एव जम्मकाले एव तेजस्वी ण जहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झण्हे तिव्वो।
,,	पावगं	हव्वं। सुराण पावयतीति पावकः—एवं लोइया भणंति। वयं पुण अविसेसेण डहण इति पावकः।
४७	पिंडं	असणादि।
,,	सेज्जं	आवसहो।
,,	वत्थं	रजोहरणादि।
५०	कुंड	संघिय कसभायण मेव महंतं।
५३	आसंदी	आसण।
,,	मंचं	मंचको।
,,	आसालएसु	सावट्ठंभमासणं।
५६	णिसेज्जा	णिसीयण।
६१	घसासु	गसति सुहुमसरीर जीवविसेसा इति घसी, अंतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराण भूसातिरासि वा।
,,	भिलुगासु	कण्हभूमिदली भिलुहा।
६३	सिणाणं	सामायिगं उवण्हाणं।
,,	कक्कं	गंधट्टओ कक्कं।

शब्द	अर्थ
लोद्ध	कसायादि।
पउमगाणि	केसर।
विभूसा	विभूषण, अलकरणं।
	ण्हाणुव्वलण उज्जलवेसादि। [जि०]

अध्ययन-७

फरुसा	लुक्खा, णेहविरहिता।
आयार	वयण-नियमण मायारो।
होले	निट्ठुर मामतण, देसीए भ (रु)विल वदणमिव।
वसुले	सुद्दपरिभव वयण।
दमए	भोयण-निमित्त घरे-घरेद्रमति गच्छतो ति दमओ रकः।
दुहए	दुभगो—अपिट्ठो।
अज्जिए	पितामही वा मातामही।
पज्जिए	पितामही मातामही माता।
हले, अण्णे	मरहट्ठेसु तरुणित्यो मामतण।
हले	लाडेसु।
भट्टे	अब्भ-रहित वयणं।
सामिणि	पायो लाडेसु।
गोमिणि	सव्व देसेसु।
होले, गोले, वसुले	गोल्लविसये, देसीए लालगत्याणीयाणि प्रियवयणामतणाणि ‥ ।
पमेइले	प्रगाढमेदो, अत्थूलोवि सुक्कमेदभरितो।
णावाण	अणेगकट्ठसघातकमुदकजाण।
दोणिण	एग कट्ठं उदगजाण मेव जेण वा अरहट्टादीण उदकं संचरति ‥ ।
पीढए	पट्ट ण्हाण पायपीढादि, उवविसणगं-पीढग।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२८	चंगबेरे	चंगेरिगासंठित्त ।
,,	मइयं	बीयसारणत्थं समं कट्ठं ।
,,	जंतलट्ठी	जंतोपीडण ।
,,	गडिया	चम्मारादीणं दीहं चउरस्सं कट्ठगं ।
२९	उवस्सए	साधुणिलयणं ।
३४	ओसहीओ	फलपाकपज्जत्ताओ सालिमादिओ ।
३५	थिरा	जोग्गादिउपघातातीओ ।

अध्ययन-८

श्लोक	शब्द	अर्थ
३	अच्छण	छणण छणः—क्षणु हिंसायामिति एयस्स रूवं क्षकारस्य य छगारता, पाकते जधा अक्खीणी अच्छीणी अकारो पडिसेहो ण छणः अछणः—अहिंसणमित्यर्थः ।
५	सुद्धपुढवीए	असत्योवहता पुढवी ।
६	सीतोदगं	तलागादिसु भोमं पाणितं ।
,,	सिला	करगवरिसं ।
,,	वुट्ठं	तक्काल वरिसोदगं ।
,,	हिमाणि	हिमवति सीतकाले भवति ।
१०	तण	सेडिकादि ।
,,	उदगम्मि	अणंतवणप्फई । [जि०]
,,	उत्तिग	सप्पछत्तादि । [जि०]
१७	पाय	लाबुदारुमट्टियामयं ।
२१	गिहिजोगं	गिहिसंसग्गि गिहिवावारं वा ।
२२	निट्ठाणं	सव्वसंभारसभियं सुपागं सुगंधं सुरसतया णिट्ठंगतं भोयणं ।
,,	रसनिज्जुढं	निग्गतरसं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२३	अयपिरो	अजंपणसीलो।
२४	जगणिस्सिए	ण एक्कं कुल गाम वा णिस्सितो जणपदमेव।
२५	लूहवित्ती	लूह सजमो तस्स अणुवरोहेण वित्ती जस्स सो लूहवित्ती अहवा लूहदव्वाणि चणगनिप्फावकोद्दवा-दीणि वित्ती जस्स।
,,	आसुरत्तं	आसुरो कोहो तब्भावो आसुरत्तं।
२६	कक्कसं	जो सीउण्हकोसादिफासो सो सरीरं किसं कुव्वइत्ति कक्कसं।
२७	महाफल	मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।
२८	अत्थंगयम्मि आइच्चे अत्थो णाम पव्वओ, तमि गतो आदिच्चो अत्थगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्तो। [जि०]	
२९	अतिंतिणे	तेंबुरु-विकट्ठडहणमिव तिणिंत्तिणणं तिंतिणं।
३२	अणायारं	अकरणीय वत्थु।
,,	गूहे	पडिच्छायणं।
३७	मित्ताणि	कुलपरंपरागताणि वि मित्ताणि।
४०	राइणिएसु	पुव्वदिक्खिता।
,,	धुवसीलय	धुव-सतत सील-अट्ठारस सहस्स भेदं।
४१	मिहो-कहाहिं	रहस्सकथाओ इत्थी सबद्धाओ तहाभूताओवाताओ।
५०	जोगं	ओसहसमवादो। अहवा निद्देसणवसीकरणाणि। [जि०]
,,	णिमित्तं	तीतादि। [जि०]
,,	मत	असाधणं।
,,	भेसज	विरेचन ओसहं।
,,	भूयाहिगरणं	भूताणि—एगिंदियाईणि तेसिं संघट्टणपरितावणा-दीणि अहियं कीरति जमि तं भूताधिगरणं [जि०]
५६	विभूसा	अलकरणं विभूसा। [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
५६	पणीयरस भोयणं	णेहलवणसभारोतिप्रकरिसेण सरसत्तं णीतं निद्ध-पेसल वण्णादिउववेयं। [जि०]
,,	तालउडं	जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं।
५९	पोग्गलाण	रूवरसगधफरिससद्दमंतो अत्थो।
,,	सीईभूएण	उवसत।
६०	सद्धा	धम्मो आयारो।
,,	निक्खतो	धम्मं पुरतो काऊणं जं घरातो णिग्गतो।
,,	परियायट्ठाणं	परियाओ—पवज्जा, स एव मोक्खसाहण भावेन ट्ठाणं—स्थानं।

अध्ययन-९ (उद्देसक-१)

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	थंभा	थंभण, अभिमाणो, गव्वो।
२	आसायण	निज्जरा आयस्स सातणं।
४	जाइपहं	जातो—समुप्पत्ती, वधो—मरणं, जम्ममरणाणि गच्छति अहवा जातिपथ—जातिमग्गं—ससारं।
५	आसीविसो	आसीए विसं जस्स।
१३	लज्जा	सकणं।
,,	दया	सत्ताणुकम्पा।

अध्ययन-९ (उद्देसक-२)

श्लोक	शब्द	अर्थ
१९	दुग्गओ	गलिवलद्दो।
२१	विवत्ती	कज्जणासो।
,,	संपत्ती	कज्जलाभो।
२२	पिसुणे	पीति सुण्णं करोतित्ति पिसुणो।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२२	साहस	रभसेणाकिच्चकारी।
,,	हीणपेसणे	पेसणं जधाकालं उपपादयितु मसत्तो हीणपेसणो।

अध्ययन-६ (उद्देसक-३)

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	आयरिय	सुत्तत्थ तदुभयगुणादि सपण्णो अप्पणो गुरूहिं गुरुपदे ठावितो आयरियो।
४	अण्णायउछं	देखो—चू-२।५।
,,	जवणट्ठया	सरीरधारणत्थं।
,,	समुयाणं	समेच्च उवादीयते इति समुदाणं।
६	उच्छाहो	सामत्थ।
१२	हीलए	पुव्वदुच्चरितादि लज्जावणं हीलणं।
,,	खिसणं	अबाडणाति किलेसणं खिसण।
१५	रय	आश्रवकाले रयो।
,,	मल	बद्धपुट्ठणिकायिय कम्म मलो।

अध्ययन-६ (उद्देसक-४)

सूत्र	शब्द	अर्थ
१	थेरा	गणधरा।
४	वेय	विदति जेण अत्थविसेसे जम्मि वा भणिते विदंति सो वेदो तं पुण णाणमेव ....।
५	सुअं	दुवालसंग गणिपिडगं सुत्तणेणं तं सुत्तं।
श्लोक		
६	खेमं	णिखातं।

अध्ययन-१०

१	निक्खम्म	निग्गच्छिऊण गिहातो।
		निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थभावाओ वा दुपदादीणि य चइऊण। [जि०]
		निष्क्रम्य सर्वसगपरित्यागं कृत्वा अथवा निष्क्रम्य—आदाय। [जि०]

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	आणाए	वयण संदेसोवा।
,,	बुद्धवयणे	दुवालसंग गणिपिडगं तम्मि।
,,	वसं	छंदो, विसयाणुरागो।
,,	वत	असंजमं।
२	सीओदगं	अविगतजीव।
३	हरियाणि	हरितवयणं सव्व वणस्सति सूयगं।
,,	बीयाणि	बीजवयणं कदादि सव्व वणस्सत्ति अवयव सूयगं।
,,	सचित्तं	सचित्तवयणं पत्तेयसाधारण वणस्सति गहणत्थं।
५	नायपुत्त	णातकुलुप्पन्नस्स णातपुत्तस्सभगवतो वद्धमाण-सामिणो।
,,	फासे	आसेवण।
,,	पंचासव	पचासवदाराणि इदियाणि ताणि आसवा चेव।
६	अहणे	घन चउप्पदादि तं जस्स नत्थि सो अहणो।
,,	जायरूवरयए	ज णो केणइ उवाएण उप्पाइय त जातरूव भण्णइ, त च सुवण्णं, रययगहणेण रुप्पगस्स गहणं कयं।
७	सम्मदिट्ठि	सब्भाव सद्दहणा लक्खणा समा दिट्ठि सा जस्स सो सम्मदिट्ठी।
,,	अमूढे	परतित्थिविभवादीहिं अमूढे।
८	छदिय	छदो—इच्छा, इच्छाकारेण जेयणं छदण। एव छदिय।
,,	साहम्मिया	समाणधम्मिया (साहुणो)।
१०	अविहेडए	परे विग्गहविकयापसगेसु समत्थोवि ण तालणादिणा विहेढयति एव सविहेढए।
,,	गामकंटए	इदिय समवादो गामो तस्स कटंका इव कंटका अणिट्ठविसया।
११	अक्कोस	मादिसगरादि अक्कोसा।

श्लोक	शब्द	अर्थ
११	पहार	कसाति ताडणं पहारा।
,,	तज्जणाओ	विमुट्ठितादि अंबाडणं तज्जणा।
,,	भय	पच्चवायो।
,,	भेरव	रौद्द।
,,	सद्द	वेतालकालिवादीणां सद्दो।
,,	सपहासे	समेच्च पहसण।
१२	मसाणे	सव-सयणं मसाणे।
१३	वोसट्ठचत्तदेहे	पडिमादिसु विनिवृत्त क्रियोण्हाणुमद्दणाति विभूसा-विरहितो चत्तो सरीरं देहोवोसट्ठो चत्तोपदेहो जेण सो वोसट्ठचत्तदेहो।
,,	अनियाणे	दिव्वादि विभवेसु अणिदुट्ठचित्ते अनियाणे।
१५	अज्झप्प	अप्पाण मविकारऊण जं भवति तं अज्झप्प।
१६	उवहिम्मि	वत्थपत्तादि।
,,	अन्नायउछपुले	उंछं चउव्विह ···दव्वुच्छ तावसा दीणा उग्गमुप्पायणेसणासुद्ध। अण्णायमण्णतेणसमुप्पादितं भावुछमण्णा उछ त पुलयति तमेसति एस अण्णाउंछ पुलाए।
,,	निप्पुलाए	पुलाए चउव्विहे····· दव्वपुलाओ पलंजी। मूलूत्तरगुणपडिसेवणाए निस्सारं संजमं करेति एस भाव पुलाए। जघा निप्पुलाए।
,,	कयविक्कय	मुल्लस्स पडिमुल्लेण गहणं दाणं वा।
,,	संग	जत्थ सज्जति जीवा।
१७	इड्ढि	वियुव्वणमादि।
,,	सक्कारण	पूयण विसेसो।
२०	अज्जपय	रिजु भाव।

श्लोक	शब्द	अर्थ
२०	हस्सकुहए	हस्स निमित्तो वा कुहगं हस्सकुहगं जवा करेति जधा परस्सहास मुप्पज्जति ।
२१	अपुणागमं	सिद्धी, संसारदुक्खविणिव्वित्ती ।

प्रथम चूलिका

सूत्र		
१ स्था० ३	साइ	कुडिलं ।
,, ६	वंतस्स	अण्णं अब्भवहरिऊण मुहेण उग्गिलियं वंतं ।
,, ७	अहरगइ	अवोगती जत्थ पंडतो कम्मादि पारगो खेणण सक्का वारेतुं सा अधरगती ।
,, ६	आयंके	सूलादिको आसुकारी सरीर-बाधा विसेसो आयंको सारीरं दुक्खं ।
,, १०	संकप्पे	माणसं दुक्ख ।
,, १२	सावज्जे	सह अवज्जेण सावज्जं, अकज्जं गरहितं ।
,, १६	कुस	दब्भाजातीया तृण विसेसा ।
श्लोक		
५	सेट्ठि	रायकुललद्धसम्माणो समाविद्धवेट्ठणो वणिग्गाम महत्तरो य सेट्ठी................ ।
,,	कव्वडे	चाड चोवग कूडसक्खीसमुब्भावितदुव्ववहारारंभो कव्वडं अहवा कुणगरं जत्थ जल-थल समुब्भव विचित्रदंड विणिओगो ।
६	मच्छो	जलचर-सत्त-विसेसो ।
,,	संताओ	समट्ठितो ।
,,	संताण	अवोच्छित्ती ।
८	पंको	चिक्कलो ।
६	गणी	सूरिपद अणुप्पत्तो ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
६	भावियप्पा	सम्मद्दंसणेण बहु-विहेहिय तवजोगेहिं अणिच्च आदि भावणाहि य भावितप्पा।
,,	परियाए	तहा पज्ज (य) परिणति अथवा प्रवज्या सद्दस्स अवब्भसो।
११	अमर	मरणं मारो, ण जेसिं मारो अत्थि ते अमरा।
१२	सिरीओ	लच्छी सोभा वा।
,,	हीलंति	ह्री लज्जा मुपणयति हीलेंति यदुक्तं ह्रेपयन्ति।
,,	दाढा	अग्गदत्त-परियस्स दसण-विसेसो दाढा।
१३	अकित्ती	जणमुखपरंपरेणगुणससद्दणं कित्ति, होसकित्तणं अकित्ति।
१४	अणभिज्झियं	अभिलासो अभिज्झा। सा तत्थ समुप्पण्णा तं अभिज्झित, तव्विवरीयं अणभिज्झितं।
,,	बोही	आरहतस्स लद्धी बोही।
१८	आय	पुण्णविण्णाणादीण आगमे।

द्वितीय चूलिका

श्लोक	शब्द	अर्थ
१	चूलियं	अप्पा चूला चूलिया, सा पुण सिहा।
२	अणुसोय	अणुसद्दो पच्छाभावो सोयमिति पाणियस्स णिण्णप्पदेसाभिसप्पणं।
,,	पडिसोय	इत्थ पडिसोय रागविणयणं।
,,	होउकामेणं	णिव्वाणगमणरुहो।
४	आयार	मूलगुणा।
,,	परक्कमेण	बल, आयार-धारणे सामत्थं।
,,	गुणा	चरित्ताचरित्तमेवमूलुत्तरगुण समुदायो गुणा।
,,	णियमा	पडिमादयो अभिग्गह विसेसा।

शब्द	शब्द	अर्थ
५	अणिएयवासो	णिकेतं घर तत्थ ण वसितव्व मुज्जाणाति वासिणा होतव्वं, अणिएयवासो वा जतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्व किंतु विहरितव्वं ।
५	समुयाणचरिया	मज्जादाए उग्गमित्तं तमेगो भावेन उवणीय मिति समुदाणं । तस्स विसुद्धस्सचरणं समुदाणचरिया ।
"	अण्णायउंछ	उंछं दुविह दव्वओ भावओ य । दव्वओ तावसाईण जं तो, पुव्वपच्छासंथवादीहिं ण उप्पाइयमिति भावओ, अन्नायं उछ । [जि०]
"	पइरिक्कया	पइरिक्क विवित्त भण्णइ । दव्वे जं विजणं भावे रागाइविरहितं, सपक्खपरपक्खे माणवज्जियं वा, तब्भावो पइरिक्कयाओ । [जि०]
"	उवही	उवघान ।
"	कलह	कोधाविट्ठस्स भडणं कलहो ।
"	विहारचरिया	विहरण विहारो, विहारस्स आचरणं विहारचरिया ।
"	इसिणं	गणाधरादयो ।
६	आइन्न	अच्चत्थ पड़िपूरिय रायकुलसंखडिमादि ।
"	ओमाण	ऊण—अवम, माणं ओमाणं ।
"	ओसन्न	पायोवित्तीए वट्टइ ।
"	संसट्ठ	संगुट्ठ ईसिहत्थमत्तादि । [जि०]
"	कप्पेण	विधी । ["]
"	तज्जाय	जात सद्दो सजातीय भेद प्रकार वाचको । ["]
७	अमज्ज	मदनीयं मदकारी वा मज्ज, न मज्जं अमज्ज ।
"	मसासि	प्राणीसरीरावयवो ।
"	अमच्छरीया	मच्छरो—क्रोधो न मच्छरो अमच्छरो ।
"	विगइ	विक्रति विगति वा णेतीति विगई ।
८	गामे	कुलसमवायो गामं ।

श्लोक	शब्द	अर्थ
८	कुले	एगकुडुबं कुलं ।
,,	णगरे	महामणुस्स संपरिग्गहो पंडित-समवायोणगरं ।
,,	देसे	विसयस्स किंचि मंडल देसो ।
६	गिहिणो वेयावडियं	गिहिं-पुत्तदारं जस्स अत्थी सो गिही, गिह-घर जस्स अत्थि सो गिही । गिहीणो वेयावडियं नाम तव्वावारकरण तेसो प्रीतिजणण उपकार असजमाणुमादेगं ।
,,	अभिवायण	वयणेण णमोक्कारादि करण अभिवायणं ।
,,	असंकिलिट्ठेहिं	गिहिवेयावडियादि रागद्दोस विवाहिय—परिणामो सकिलिट्ठो तहा भूते परिहरिऊण असकिलिट्ठेहिं ।
१०	निउण	संजमावस्सकरणीय जोगेसु दक्खो ।
,,	सहाय	सह एगत्थ पवत्तते इति सहायो ।
,,	कामेसु	इत्थि-विसया ।
११	सवच्छर	काल-परिमाणं । त पुण णेह बारसमासिग संबज्झति किंतु वरिसारत्त चातुमासित ।
,,	सुतस्स	अत्थ सूयणेण अत्यप्पसूतितो वा सुत्त ।
१३	खलिय	पमादकतं बुद्धि-खलियं । खलणं पुण विचलण ।
,,	पडिबव	पडिबंधणं निदाणं वा ।
१४	धीरो	पडितो तवकरणसूरो वा ।
,,	आइन्नओ	गुणेहिं जवविणियादीहि आपूरितो आइन्नो सो पुण अस्सजातिरेव वा आइण्णो कच्छकादि ।
,,	खलीन	वज्ज-लोह-समुदायो हयवेगनिरूमण खलिनं ।
१५	जिइंदियस्स	विसय विणियत्तियेंदियो जितेंदियो ।
,,	पडिवुद्धजीवी	जो ण भवति पमाद सुत्तो सो पडिवुद्धो, पडिवुद्धस्स जीवितुं सीलो जस्स सो पडिवुद्धजीवी ।

प्रयुक्त ग्रन्थों की तालिका

१. *अगस्त्य चूर्णि* — अगस्त्यसिंह स्थविर
(फोटो प्रिन्ट प्रति : सेठिया पुस्तकालय, सुजानगढ)

२. *अणु और आभा*

३ *अनुयोग द्वार* — आर्यरक्षित सूरि
(प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, वम्बई)

४. *अभिधान चिन्तामणि* (कोश) — हेमचन्द्राचार्य
(प्र० जसवंतलाल गीरधरलाल शाह, — सं० विजयकस्तूर सूरि
८ रीलीफ रोड, अहमदाबाद-१)

५. *अष्टाङ्ग हृदय सूत्र स्थान*

६. *आचाराङ्ग सूत्रम्* (वि० सं० २००७, — अनु० मुनि सौभाग्यमलजी
प्र० श्री जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन)

७ *आचाराङ्ग निर्युक्ति* (वि० सं० १९९१, — भद्रवाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० श्री सिद्धिचक्र साहित्य प्रचारक समिति, वम्बई)

८. *आचाराङ्ग वृत्ति* वि० स० १९९१, — शीलाङ्काचार्य
प्र० श्री सिद्धिचक्र साहित्य प्रचारक समिति, वम्बई)

९ *आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द योजना*

१०. *आवश्यक निर्युक्ति* (वि० स० १९८४, — भद्रवाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० आगमोदय समिति, वम्बई)

११ *इतिवुत्त* (वि० स० २०१६, — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल)

१२ *उत्तराध्ययन* (भाग १-३, वि० सं० १९७२,
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था)

१३ *उत्तराध्ययन चूर्णि* (वि० स० १९८९, — जिनदास महत्तर
प्र० श्री ऋषभदेव केशरीमल श्री श्वे० सस्था, इन्दौर)

१४. *उत्तराध्ययन निर्युक्ति* (भाग१-३,वि०स०१९७२, — भद्रवाहु स्वामी-(द्वितीय)
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाडागार सस्था)

१५ *उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति* (भा०१-३, वि०स०१९७२, — वेतालवादी शान्तिसूरि
प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाडागार सस्था)

१६. *उत्तराध्ययन सूत्र* (सन् १९२२, प्र० उप्पसला विश्वविद्यालय) — सं० डॉ० सर्पेन्टियर

१७. *एनेल्स ऑफ भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट* (जिल्द : १७, सन् १९३६)

१८. *ऋक् प्रातिशाख्य*

१९. *ऋग्वेद* (सन् १९५७, प्र० स्वाध्याय-मण्डल, पारडी) — सं० सातवलेकर

२०. *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर* (भा०२, सन् १९३३, प्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय) — डॉ० मोरीस विन्टरनित्ज

२१. *ए हिस्ट्री ऑफ द केनॉनिकल लिटरेचर ऑफ द जैन्स* (प्र०ही०रा० सकडीसेरी, गोपीपुरा, सूरत) — ही०र० कापडिया

२२ *ओघ निर्युक्ति* (वि०सं०१९७५, श्रीमती वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति) — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)

२३ *अगपण्णत्ति चूलिका* (प्र० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला)

२४. *कषाय पाहुड* (वि०सं०२००० से २०२२ भा०१-६, प्र० भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा) — भगवद् गुणधराचार्य

२५. *कोसिय जातक* (खं०२, सन् १९४२, (प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) — अनु० भिक्षु आनन्द कौसल्यायन

२६ *गीता* (प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर) — महर्षि वेद व्यास

२७ *गोम्मटसार* (कर्म काण्ड) (सन् १९२७, प्र० सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ) — नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अनु०-सं० जे०एल० जैनी

२८ *गोम्मटसार* (जीव काण्ड) ,, ,, ,, ,,

२९ *जय धवला* (वि०सं० २००० से २०२२,६ भाग, प्र० भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा) — वीरसेनाचार्य, सं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

३०. *जिनदास चूर्णि* (वि० सं० १९८४, प्र० शेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत) — जिनदास महत्तर

३१. *जैन साहित्य और इतिहास* (सन् १९४२, प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई) — नाथूराम प्रेमी

३२. *तत्त्वार्थ भाष्य* (सन् १९३२, — श्रीमदुमास्वाति
(प्र० श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, — अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
जौहरी वाजार, बम्बई-२)

३३ *तत्त्वार्थ सूत्र* " " "

३४ *दशवैकालिक निर्युक्ति* (वि० स० १९७४, — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार सस्था)

३५ *दसवेआलिय* (भा०२ — वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी
मूल, सार्थ, सटिप्पण वि० स० २०२०,
प्र० जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता)

३६. *दसवेयालिय सुत्त* (सन् १९३२, — स० डॉ० वाल्थर शुब्रिंग
प्र० सेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदाबाद)

३७ *दशवैकालिक सूत्र : ए स्टडी* (सन् १९३३, — प्रो० एम०डी० पट्टवर्द्धन
प्र० विलिंगटन कालेज, सगली)

३८ *दशवैकालिक* (हारिभद्रीय वृत्ति, वि०स०१९७४,
प्र० देवचन्द लालचन्द जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था)

३९ *दीघनिकाय* (सन् १९५८,
प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल) — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
(सन् १९३६, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, — अनु० राहुल सांकृत्यायन
वनारस)

४० *देशीनाम माला* (द्वि० स०, सन् १९३८, — आचार्य हेमचन्द्र
प्र० वम्बई संस्कृत सीरिज)

४१ *द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका*

४२ *धम्मपद* (वि० सं० १९८०, — सं० धर्मानन्द कोसम्बी
प्र० गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद)

४३ *धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातंत्रात्मक परम्पराएँ*

४४. *धवला* (षट्खण्डागम, भा० १-९, — वीर सेनाचार्य
वि० स० १९९६ से २००६, — स० डॉ० हीरालाल जैन
प्र० जैन साहित्योद्धार कार्यालय, अमरावती)

४५ *निशीथ भाष्य* (प्रथम संस्करण, — सं० उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा) — मुनिश्री कन्हैयालाल "कमल"

४६. *निशीथ भाष्य चूर्णि*(प्र०सं०) " " "

४७. *नंदी*
(सन् १६५८, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा) — सं० सुबोध मुनि
(वि०सं० १९८०, प्र० आगमोदय समिति, बम्बई) — वृ० आचार्य मलयगिरि

४८ *नदी वृत्ति* (वि० सं० १९८४, प्र० ऋषभदेव केशरीमल जैन श्री श्वे० संस्था, रतलाम) — हरिभद्र सूरि

४६ *पट्टावली समुच्चय:* (तपागच्छ पट्टावली, प्र० चारित्र-स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद) — सं० मुनि दर्शनविजय

५० *पाइअ-सद्द-महण्णव* — हरगोविन्द दास त्रिकमचंद सेठ
(द्वि० सं०, वि० सं० २०२०, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५)

५१ *पातञ्जल ऋक् प्रातिशाख्य*

५२ *पातञ्जल भाष्य* (सन् १६१०, प्र० पाणिनि आफिस, बहादुरगंज) — महर्षि पतञ्जलि

५३ *पातञ्जल योग दर्शन* (वि० सं० २०१७, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर) — महर्षि पतञ्जलि

५४ *पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म*

५५. *पिण्ड निर्युक्ति* (वि० सं० २०१८, प्र० शासन कण्टकोद्धारक ज्ञानमन्दिर, भावनगर, सौराष्ट्र) — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)

५६ *पचकल्प*

५७. *पचकल्प चूर्णि*

५८ *पचकल्प भाष्य*

५६. *पच संग्रह* — चन्द्र महर्षि
(प्र० आगमोदय समिति श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर)

६० *प्रमाणनय तत्त्वालोक* (वि० सं० १९८६, प्र० विजयधर्म सूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन) — वादिदेव सूरि, सं० हिमांशु विजयन

६१. *प्रवचन सारोद्धार* (वि० सं० १९७८, (प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था) — नेमिचन्द्र सूरि

६२ *प्रशमरति प्रकरण* (वि० सं० २००७, प्र० श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई) — श्रीमदुमास्वाति, सं० राजकुमार साहित्याचार्य

६३ *प्रश्न उपनिषद्* (वि० स० २०१६, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर) — भा० शंकराचार्य

६४ *प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध* — श्रीमज्जयाचार्य
(प्र० हीरालाल धनसुखदास आँचलिया)

६५ *प्रश्न व्याकरण* (वृत्तिमह) (वि० स० १९९५,
मुनि विमल जैन ग्रन्थमाला, अहमदावाद ,
धनपतसिंहजी आगम सग्रह, १०मा भाग)

६६ *प्राकृत भाषाओं का व्याकरण* (वि०स०२०१५, — रिचर्ड पिशल
प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना) — अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी

६७ *प्राकृत साहित्य का इतिहास* (ई०स०१९६१, — डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी)

६८ *बुद्ध वचन* (चतुर्थ संस्करण) — अनु० आनन्द कौसल्यायन
(महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस)

६९ *बृहद्कल्प सूत्रम्* (भाष्य नियुक्ति सहित) — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
(सन् १९३३-३८, प्र० श्री जैन आत्मानन्द सभा, — सं० मुनि पुण्यविजयजी
भावनगर, सौराष्ट्र)

७० *बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष* ('आजकल' वार्षिक अंक — सं० पी०वी० बापट
दिसम्बर, १९५६, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली-८)

७१ *भगवती* (वि० सं० १९८८, — अनु० बेचरदास दोशी
प्र०जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदावाद) — अ० भ० ह० दोशी

७२ *भगवती जोड़* — श्रीमद्जयाचार्य
(अप्रकाशित)

७३. *भगवती वृत्ति* — अभयदेव सूरि
(प्र० आगमोदय समिति)

७४ *भिक्षु शब्दानुशासन*
(अप्रकाशित)

७५ *भागवत* (वि० सं० २०१८, — महर्षि वेद व्यास
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

७६. *मज्झिम निकाय*
(ई०स०१९३३, प्र० महाबोधिसभा, सारनाथ) — अनु० राहुल सांकृत्यायन
(वि० सं० २०१५, बिहार राजकीयेन — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
पालिपकासन मण्डल)

७७ *मनुस्मृति* (सन् १९४६, — सं० नारायणराम आचार्य
प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)

७८ *महाभारत* (प्रथम संस्करण, — महर्षि वेदव्यास
प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर)

७९ *मूलाराधना* (टीका-विजयोदया) — अपराजित सूरि

८० *योग बिन्दु* (सन् १९४०, — हरिभद्र सूरि
जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद)

८१ *योग शास्त्रम्* (स्वोपज्ञ विवरण सहित) — हेमचन्द्राचार्य
(सन् १९२६, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

८२ *रिलीजियन द जैन, क* — अनु० डॉ० ग्यारीनो

८३ *लोक प्रकाश* — विनय विजय गणि
(सन् १९३२, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)

८४ *विनय पिटक* (सन् १९३५, — अनु० राहुल सांकृत्यायन
प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस)

८५ *विशेषावश्यक भाष्य* — जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
(वी०सं० २४८९, दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद)

८६. *विसवन्त जातक* (जातक ख० १) — अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग)

८७. *वेदान्त परिभाषा* — धर्मराजाध्वरीन्द्र
(प्रथम संस्करण) — सं० श्री पञ्चानन भट्टाचार्य शास्त्री

८८. *वेदान्त सार*

८९. *व्यवहार भाष्य* (वि० सं० १९९४, — संशोधक मुनि माणक
प्र० वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर)

९० *व्यवहार सूत्र* (वि० सं० १९८२, — भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय)
प्र० जैन श्वेताम्बर संघ, भावनगर)

९१. *शालिग्राम निघण्टु भूषण*

९२. *शौनक ऋक् प्रातिशाख्य*

९३ *समाधि शतक*

९४. *सर्वार्थसिद्धि* (वि० सं० २०१२, — आचार्य पूज्यपाद
प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) — सं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

९५ *सुत्त निपात* (वि० सं० २०१६, — सं० जगदीश काश्यप
प्र० विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डल)

९६. *सुश्रुत सूत्र स्थान*

९७. *सूत्र कृताग* (वि० सं० १९७३,
प्र० आगमोदय समिति)

९८ *सूत्राकृताग वृत्ति* (वि० सं० १९७३, — अभयदेव सूरि
प्र० आगमोदय समिति)

९९. *संस्कृत इंग्लिश डिक्सनरी* (सन् १९६३, — सं० सर मोनियर विलियम्स
प्र० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी)

१००. *सयुक्त निकाय* (प्र० सं०, — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप
(प्र० बिहार राजकीयेन पालि पकासन मण्डल)

१०१. *स्थानाग* (वि० सं० १९९४, — श्री अभयदेव सूरि
प्र० शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद)

१०२ *स्थानाग वृत्ति* (वि० सं० १९९४,
प्र० शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद)

१०३. *हारिभद्रीय अष्टक* (वि० सं० १९५६, — हरिभद्र सूरि
प्र० भीमसिंह माणेक, निर्णय सागर छापाखाना, बम्बई)

१०४. *हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास*

१०५. *हिन्दू राज्यतन्त्र*

१०६ *हेमशब्दानुशासन* (वि० स० १९९२, — आचार्य हेमचन्द्र सूरि
प्र० सेठ मनसुखभाई पोरवाड, डायमन्ड जुबली
प्रिन्टिग प्रेस, सालापोस दरवाजा, अहमदाबाद)

१०७. *ज्ञाता धर्मकथाङ्ग* (वि० स० २००९,
प्र० सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति)